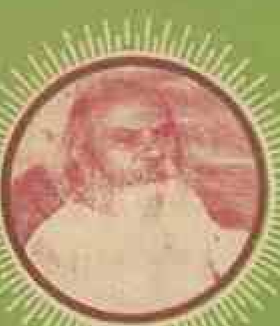

संस्थापक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्र मोहनजी महाराज

सिद्धयोग

अक्टूबर १९९०

वर्ष २२

अंक ७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

'सिद्धयोग' आपको क्यों पढ़ना चाहिए ?

इसलिए कि इसके नियमित रूप में पढ़ते रहने से—

- ❀ आपको अपने ब्रह्मलीन गुरुदेव के अमूल्य योगोपदेशों से निकट सम्बन्ध बनाये रखने का सुअवसर प्राप्त होगा।
- ❀ अपने जीवन को अध्यात्म की उच्चतम् भूमिकाओं पर ले चलने का बोध प्राप्त होगा।
- ❀ प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित कर्मों का स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी।
- ❀ गुरु कृपा से असम्भव को भी सम्भव बना पाने का उपाय प्राप्त होगा।
- ❀ आसन, बन्ध और मुद्राओं के अभ्यास से स्वास्थ्य और सौन्दर्य को स्थिर रखकर रोगों से कैसे बचा जा सकता है, इसका परिचय प्राप्त होगा।
- ❀ प्राणायाम की विधि क्या है और उसके कितने प्रकार होते हैं यह सहज ही समझ पायेंगे आप इसमें नियमित रूप से प्रकाशित होने वाले प्राचीन और अर्वाचीन योगियों के विचारपूर्ण लेखों से।
- ❀ ध्यान की गहराइयों में उतर कर आन्तर शक्ति को जगमग और जाग्रत बनाने के उपायों का सहज परिचय पा सकेंगे।

तथा

- ❀ प्रत्येक अङ्क में गुरुदेवजी के अमूल्य उपदेश और जीवन की घटनाओं से आप अपना नित्य सम्बन्ध जोड़े रहने का लाभ प्राप्त करेंगे।
- ❀ अतः आप भूलिए नहीं 'सिद्धयोग' का नियमित पठन-पाठन।
- ❀ सिद्धयोग के ग्राहक परिवार से आप अपना सम्बन्ध आवश्यक और अनिवार्य रूप से जोड़े रहिए। —व्यवस्थापक

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

अक्टूबर
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ गणयति दुःखं न च सुखम् (प्रार्थना) २
★ प्राणायाम एवं त्रिबन्ध (विशेष लेख) ३
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनंत श्री चंद्रमोहनजी महाराज
★ सहज योग ६
—श्री जगदीश
★ कर्त्तव्य-पालन का प्रशस्त पथ (सम्पादकीय) ७
★ मृत्यु-भय ९
—आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
★ जीवन तत्व साधन—नाभि-चालन १२
—श्री गुरुदेवजी द्वारा
★ सर्प के फन पर नृत्य १७
—श्री विष्णु प्रसाद व्यास
★ शब्द-शक्ति की उपासना २०
—आचार्य विनोबा
★ प्रेरक-प्रसंग २१
—श्री केशव उपाध्याय
★ योग का महत्व २३
—श्री रामनरेश मिश्र शास्त्री
★ मैं कौन हूं ! शरीर या आत्मा २५
—ब्र० श्री ओमप्रकाश
★ पत्रं पुष्पं फलं तोयम्—सूक्तियाँ ३०
★ जीवन में योग की उपादेयता ३२
—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
★ मृत्यु क्या और क्यों ? ३७
—श्री मेहूरे बाबा
★ पालब्रण्टन (एक भेंट वार्ता) ३९
—डा० विजयसिंह
★ चित्त और उसकी चंचलता का निरोध ४२
—श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती
★ मर्मों का निरूपण ४५
—पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री
★ विजय-पर्व (कविता) ४८
—श्री दिव्य

वार्षिक मूल्य ४० रुपया। एक अंक का ५ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २३
अङ्क ७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अक्टूबर
१९९०

गणयति दुःखं न च सुखम्

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः,
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्

किसी कार्य की सिद्धि में लगा हुआ विद्वान् सुख और दुःख की परवाह नहीं किया करता। कभी तो वह बिछौना न मिलने पर भूमि पर ही सो जाता है, कभी मिल जाने पर पलङ्ग पर, कभी सागपात खाकर ही पेट भर लिया करता है तो कभी साठी के धान का भात खा लेता है, कभी गुदड़ी ही पहिन कर निर्वाह कर लेता है तो कभी दिव्य वस्त्र भी धारण कर लेता है।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा, न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं, न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

अर्थात्

समुद्र मंथन के समय बहुमूल्य रत्नों के प्राप्त होने पर भी देवगण सन्तुष्ट नहीं हुए। भयंकर विष के मिलने पर भी नहीं डरे और बिना अमृत पाये वे मन्थन रूप कार्य से रुके नहीं? ठीक ही है, बुद्धिमान और धीर पुरुष अभीष्ट वस्तु को प्राप्त किये बिना प्रारब्ध कार्य को छोड़ते नहीं।

—श्री भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख :

प्राणायाम एवं त्रिबंध

ब्रह्मलीन योगयोगेश्वर
अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योग साधकों के लिए प्राणायाम के महत्व पर पूज्य गुरुदेवजी ने समय-समय पर अपने विचार विस्तार से प्रकट किये हैं। इस अङ्क में उसी विचार श्रृंखला में से पाठकों के हितार्थ यह लेख यहाँ दिया जा रहा है।

—सम्पादक

प्राणायाम के अभ्यासी साधकोंको तीन बन्धों को लगाने की विधि का पूरा ज्ञान होना चाहिए और बन्धों को लगाते हुए ही उन्हें प्राणों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए। इस लेख में बन्धों का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। त्रिबन्धों का ज्ञान प्राणायाम के साधकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। पढ़िये मूलबन्ध का स्वरूप और उसका फल—

पार्ष्णि भागेन संपीड्य, योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य, मूलबन्धोऽभिधीयते ।।

अधोगतिमपानं वा, ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ।।

अर्थात् पैर की एड़ी के भाग से गुदा और लिंग के मध्य भाग को दबायें और गुदा का ऊर्ध्वाकर्षण करे। इसके साथ ही अपान वायु का मन के दृढ़ संकल्प के साथ ऊर्ध्वाकर्षण करे, इसी को मूलबन्ध कहते हैं। यह अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी बनाता है, इसीलिए आचार्यों ने इसको मूलबन्ध कहा है—

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वम् समायाति समीरणः ।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।।

अर्थात् पैर की एड़ी से गुदा द्वार को दबाकर अपान वायु का ऊर्ध्वाकर्षण करे, बार-बार ऐसा करने से वायु का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राण और अपान, नाद और बिन्दु दोनों मूलबन्ध के लगाने से एकता को प्राप्त होते हैं। योगकी निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है—

अपान प्राणयोरैक्यं, क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि, सततं मूलबन्धनात् ।।
अपान ऊर्ध्वगे जाते, प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा, जायते वायुनाऽऽहता ।।

ततो यातो वह्न्यपानौ, प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु, ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता, संतप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।

अर्थात् मूलबन्ध के लग जाने के बाद प्राण-अपान की एकता हो जाने पर शरीर में संचित मल-मूत्र का क्षय हो जाता है। अर्थात् प्राणायाम के घर्षण से अन्न का रस भाग जल्दी से व्याप्त होने लगता है और प्राणायाम के अभ्यासी को मल-मूत्र बहुत थोड़ी ही मात्रा में आने लगते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जीर्ण शरीर वाला अति वृद्ध भी पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है। यह मूलबन्ध का विशेष परिणाम है, क्योंकि ज्योंही प्राण ऊर्ध्वगति करता है त्योंही वायु से ताड़ित हुआ वह्नि-मण्डल पूर्णरूपेण प्रदीप्त हो जाता है एवं उससे अग्नि की लपट तीव्रता से निकलने लगती है। फिर वह अग्नि अपान के बल से ऊर्ध्वगति करके प्राण में मिल जाती है एवं प्राणवायु समागम से देह में प्राप्त हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाती है। इसी के फलस्वरूप महाशक्ति कुण्डलिनी जग जाती है, जिस प्रकार दण्डे के मारनेसे सर्पिणी जगकर भागती है—

बिलं प्रविष्टेव ततो,
ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्य मूलबंधः,
कर्त्तव्यो योगिभिः सदा॥

अर्थात्—कुण्डलिनी जग करके सुषुम्ना-विवरमें प्रवेश कर जाती है, इसलिए योगियों को चाहिए कि इस मूलबन्ध का अवश्य और नित्य अभ्यास करें—

उड्डीयान बन्ध

मूलबन्ध के बाद उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए। उड्डियान बन्ध लगाने की विधि—

बद्धो येन सुषुम्नायां,
प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं,
योगिभिः समुदाहृतः॥
उड्डीनं कुरुते यस्माद,
विश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र,
बन्धोऽभिधीयते॥

उड्डीयान के द्वारा प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और ब्रह्मरन्ध्रकी ओर उड़ान करता है, इसलिए योगियों ने इसको उड्डीयान बन्ध कहा है। जिस प्रकार से पक्षी आकाश में उड़ान किया करता है, उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है, इसलिए इसको उड्डीयान कहते हैं।

उड्डीयान बन्ध की विधि

उदरे पश्चिमोत्तानं,
नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो,
मृत्युमातंग केसरी॥
उड्डीयानं तु सहजं,
गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु,
वृद्धोऽपि तरुणायते॥

इसमें पेट को पीठ की ओर तनाव दिया जाता है और नाभि से ऊपर की ओर खींच लिया जाता है। यह बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के ऊपर केसरी अर्थात् सिंह के समान है। मृत्यु से जिताने वाला है, यह उड्डीयान बन्ध बहुत सरल तरीके से गुरूपदिष्ट है। जो इसका अभ्यास करते हैं वे जराजीर्ण हो जाने पर भी यौवन प्राप्त कर लिया करते हैं।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि,
ताने कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं,
जयत्येव न संशयः ।।
सर्वेषामेव बन्धानां,
मुक्तमोद्युड्डीयानकः ।
उड्डीयान दृढ़े बन्धे,
मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ।।

अर्थात्—जो योगाभ्यासी प्रयत्न करके नाभि से ऊर्ध्व उत्तान करता है । ऐसा व्यक्ति छः महीने के अन्दर मृत्यु को जीत लेता है । इसमें कुछ भी संशय नहीं है । हमारे योगाचार्यों ने इस उड्डीयान बन्ध को सब बन्धों में उत्तम कहा है । जिस योगी साधक ने उड्डीयान बन्धका अभ्यास दृढ़ कर लिया है उसकी मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है । मूलबन्ध के बाद में उड्डीयान बन्ध लगाने से प्राणायाम ऐक्य होकर प्राण की ऊर्ध्व गति हो जाती है एवं वायु पश्चिम वहन करता है । उड्डीयान बन्ध बाह्य कुम्भक में बल देता है । इसलिए मूलबन्ध के बाद इसका अभ्यास करना चाहिए । उड्डीयान बन्ध के बाद जालन्धर बन्ध का अभ्यास करना चाहिए ।

जालन्धर बन्ध का लक्षण

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये
स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं
जरा मृत्यु विनाशकः ।।
बध्नाति हि शिराजाल-
मधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्ध-
कंठ दुःखौघनाशनम् ।।

कण्ठ का संकोचन करके ठोड़ी को छाती में लगा दें । जरा मृत्यु का विनाशक जालन्धर बन्ध योगियों ने कहा है । यह बन्ध शिर के नाड़ी समूह को बाँधता है और अधोगामी अमृत को रोकता है, सारे दुःखों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध नाम का बन्ध कहा जाता है ।

जालन्धरे कृते बन्धे
कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ
न च वायु प्रकुप्यति ।।
कण्ठ संकोचनेनैव द्वे
नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं
षोडशाधारबन्धनम् ।।

जालन्धर बन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता । इस जालन्धर बन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों का स्तम्भन स्वाभाविक हो जाता है । षोडशाधार को बन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है ।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य
उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बध्वा
वाहयेत्पश्चिमे पथि ।।
अनेनैव विधानेन
प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते
मृत्युजरारोगादिकं तथा ।।
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं
महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां
साधनं योगिनो विदुः ।।

(शेष पृष्ठ ६ पर पढ़िये)

● श्री जगदीश

सहज-योग

(१)

योग का विषय बहुत ही मधुर विषय है। 'योग' शब्द सुनते ही मनुष्य का मन उड़कर परमपिता परमात्मा के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगता है। योग के द्वारा जो ईश्वरीय आनन्द प्राप्त होता है और मनुष्य के मनमें एक अलौकिक मस्ती रहती है उसका अनुभव करने की इच्छा तो बहुत मनुष्यों को होती है, परन्तु योगकी सहज और वास्तविक विधि का पता न होने के कारण वे ईश्वरीय सुख और प्यार के अनुभव से तथा मन की सच्ची शान्ति पाने से वंचित रह जाते हैं, और जीवन के अनमोल क्षणों को व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

वास्तव में परमप्रिय परमपिता परमात्मा से मिलने अर्थात् उनसे योगयुक्त होनेका सभी को अधिकार है और योगयुक्त होना कठिन भी नहीं है। योग में स्थित होने और जीवन में सच्ची सुख-शांति का अनुभव करनेके लिए मुख्य रूप से छः बातें आवश्यक है। उनमें पहली है निश्चय।

क्योंकि मनुष्य का निश्चय ही उसके मन वचन और कर्मका नेता है। मनुष्य जब बुद्धि से किसी चीज को अच्छा या बुरा निश्चय कर लेता है तब उसका मन उस चीज को प्राप्त करने या छोड़ने का चिन्तन करता रहता है और उसे प्राप्त करने या छोड़ने के विचार से ही वह कर्म अथवा पुरुषार्थ करता है। अतः योगाभ्यास, जो कि मन को ईश्वर की ओर लगाने ही का दूसरा नाम है, तभी हो सकता है जब मनुष्य योगी जीवन को ही अपना लक्ष्य, निश्चय करले, परमात्मा के ध्यान में मग्न होने के पुरुषार्थ को ही अपना पुरुषार्थ निश्चय करे और स्वयं को अव्यक्त आत्मा निश्चय करले। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य को निम्नलिखित दो बातों में निश्चय होता है, वही योगी हो सकता है अथवा उस ही का योगाभ्यास सुविधा से, निर्विघ्न रूप से तथा निरन्तर ठीक चलता रहता है। ●

(● पृष्ठ ५ का शेष)

अर्थात्—साधक को चाहिए कि पहले मूल-बन्ध लगाये फिर उड्डीयान करे। इड़ा-पिंगला को बाँधकर वायुको पश्चिम मार्ग से चलायें। इस अभ्यास से वायु लयता को प्राप्त हो जायगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद साधक को जरा-मृत्यु का भय नहीं होता, ये ही तीनों बन्ध महासिद्ध योगिराजों के अनुभूत हैं। यह महाबन्ध और हठयोग की प्राथमिक ऊँची साधना है। इन बन्धों का वेत्ता योगी कभी भी मौत को प्राप्त नहीं होता। इस प्राणायाम के अभ्यासी को इन तीन बन्धों का अभ्यास अवश्य-अवश्य करना चाहिए। साधक को चाहिए कि प्राणायाम जब करे, मूलबन्ध को पहले से लगालें और वायु का रेचन करते हुए उड्डीयान लगायें और आभ्यन्तर कुम्भक कर लेने के बाद जालन्धर बन्ध लगाकर बैठ जाय। इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक यदि बन्ध के साथ प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो अवश्य मृत्यु को जीत लेंगे और अमरत्व को प्राप्त कर लेंगे। ●

सम्पादकीय—

कर्त्तव्य-पालन का प्रशस्त पथ

कर्त्तव्य-पालन का प्रशस्त पथ ही एक ऐसा पथ है, जिस पर कोई भी मनुष्य बिना किसी जाति, वर्ण और लिंग-भेद के समान रूप से चल पड़ने का अधिकार रखता है और यह अधिकार भी रखता है कि वह इस मार्ग पर चल पड़ने के जो भी इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी लाभ हैं उनका उपभोग बिना किसी रुकावट या बाधा के वह प्राप्त करने का अवसर पा सके। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णने इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में—इसी आशङ्का को ध्यान में रखते हुए कि मनुष्य अपने भ्रम और प्रमाद में पड़कर कहीं कर्त्तव्य-पालन के प्रशस्त पथ पर चलने के लक्ष्य से भटक न जाय—या कहीं वह कर्त्तव्य-पालन का दायित्व पूरा करने से पहले फल प्राप्ति की लालसा रूपी मृग-मरीचिका में ही उलझकर न रह जाय स्पष्ट रूप से कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू र्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २/४७)

अर्थात्—अर्जुन सुन! तेरा अधिकार तो मात्र कर्त्तव्य पालन में है, फल में नहीं। इसलिए कर्म फल की दृष्टि से कर्म करने का हेतु न बनकर तू फलाशा का त्याग करके कर्म के सम्पादन में ही संलग्न रह। अकर्मण्य बनकर कर्त्तव्य-पालन के क्षेत्र से हट जाना भी मुझे उचित नहीं रहेगा।

भगवान श्रीकृष्ण का उपरोक्त उद्बोधन केवल अर्जुन के लिए ही नहीं था, किन्तु वह दिया गया था अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के प्रत्येक मानव को। खेद और चिंता का विषय यही है कि भगवान का महाभारत की युद्ध-भूमि कुरुक्षेत्र में दिया गया यह उपयोगी और श्रेयस्कर उपदेश हमारे व्यवहार और आचरण की भूमि पर जितनी गहराई और व्यापकता से उतर आना चाहिए था, नहीं उतर पाया है। काल की सहस्रों शताब्दियाँ बीत जाने पर भी निष्काम भाव से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की विधा को हम अपना स्वाभाविक धर्म नहीं बना पाये हैं। भगवान श्रीकृष्ण की जय हो, यह उद्घोष जन-जन की वाणी का विषय बनकर तो उजागर होता रहता है किन्तु उनके उपदेश का व्यावहारिक रूप जन-जन के आचरण में प्रतिष्ठित होकर उजागर नहीं हो पाता। यही कारण है कि धर्म की जय, राम-कृष्ण की जय, सद्गुरुदेव की जय के उद्घोषों की ध्वनियाँ तो हमारी आकाशगामिनी बन जाती हैं, पर चारित्रिक धरातल

हमारा जितना ऊपर उठना चाहिए था नहीं उठ पाता। सच तो यह है कि चारित्रिक अथवा आध्यात्मिक धरातल हमारे समाज का पूर्वापेक्षा अधिक वेग से कुछ नीचे ही गिरा है। आज के समाज की उठती हुई युवा पीढ़ी की अनुशासनहीनता, उत्पातप्रियता, अभद्रता और मर्यादित जीवन उल्लंघन व आये दिन होनेवाले उपद्रव हमारे इस कथन के स्पष्ट प्रमाण है, जो सबको सर्वत्र ही देखने और सुनने को मिलते रहते है। भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि महापुरुष जिन वेदशास्त्र-सम्मत मान मूल्यों की प्रतिष्ठा हमारे जीवनमें करना चाहते थे, उनसे हम दूर, बहुत दूर भागते जा रहे है। ऋषि-मुनि और उच्चकोटि के साधु-सन्तों का हितोपदेश सुनकर भी अनसुना कर देने की प्रवृत्ति आज सर्व-साधारण के जीवन में विशेष रूप से प्रवेश कर गई है। यही कारण है कि सामाजिक जीवन की गहराई में भगवान कृष्ण जैसे विश्वात्मा का कल्याणकारी मुक्ति-मार्गकी ओर निश्चित गति से ले जाने वाले निष्काम कर्मयोग के सन्देश को हममें से अधिकांश व्यावहारिक रूप देने में कतरा जाते है। कर्म करना हमारा जीवन धर्म है, हमारा अपना अधिकार है, यह समझकर कर्म का आरम्भ करने वालों की संख्या नगण्य सी ही मिल पाती है। पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी प्राय: अपने गीता प्रवचनों में बताया करते थे कि जब फलेच्छा रहित होकर कर्म करने में साधक एक विशेष आन्तरिक आनन्द का अनुभव करने लगता है, तभी वह समाधि सिद्धि का अधिकारी साधक बन पाता है। निष्काम कर्म करने का स्वभाव-स्वधर्म रूप में बना लेना ही समाधि सिद्धि का प्रथम सोपान है। अतः सभी दीक्षित शिष्यों से तथा उन सबको जो उनकी चरण-शरण में आते रहते थे, वे उन्हें निष्काम कर्मयोग की भावना को जीवन के व्यावहारिक पक्ष में उतारने पर विशेष बल दिया करते थे। वे कहा करते थे कि कर्म तो सभी को करना ही पड़ता है। किन्तु निष्काम भावना से कर्म में रत रहने की साधना में जो सफल हो पाते है, वे ही ठीक प्रकार से कर्म के महत्व को जान पाते हैं।

पूज्यपाद गुरुदेव का निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश आज भी अपनी जगह यथावत् हैं। प्रत्येक योग साधक भाई-बहनका यह दायित्व है कि हम उनके योग-प्रचार के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में निष्काम कर्म-योग के उस प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ने का सङ्कल्प लें जो योगी जीवन की साधना का आवश्यक आधार होता है। श्री गुरुदेवजी के उपरान्त आश्रम के योगप्रचार कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में भी निष्काम कर्मयोग का मन्त्र ही हम सबको सफलता दे पायेगा, यह भूलना नहीं चाहिए।

—सम्पादक

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

मृत्यु-भय

भय जीवन का सम्मोहक है। भय के वशीभूत होने पर व्यक्ति अपने केन्द्रसे विच्युत हो जाता है। हमारे सन्तों ने भगवान और मृत्यु के भय को जीवन को सात्विक तथा नैतिक बनाने के लिए आवश्यक माना है। यथा—

तुलसी इस संसार में जो चाहसि कल्याण।

किन्तु योग-दर्शन में भय आत्म-तत्व ज्ञान का विरोधी माना गया है। पंच-क्लेशों में अविद्या-अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेशों की गणना में अभिनिवेश अर्थात् देहाभिमान जन्य मृत्यु-भय है। यह भय प्रत्येक प्राणी के अन्दर जन्म के समय से ही विद्यमान रहता है। आध्यात्मिक तथा योगनिष्ठ प्राणियों में भय, निद्रा, शोक और विषाद न्यून मात्रा में रहते हैं—सत्व समाविष्ट पुरुषों की दृष्टि में ये प्राकृतिक धर्म हैं। आत्मा इन सबसे अलग निर्लिप्त तथा असंस्पृष्ट स्थितिमें रहने वाला है। तामसिक प्रकृति के पुरुषों में ये विषय स्वाभाविक और अधिक परिमाणमें विद्यमान रहते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण तामसी धारणा के विवेचन में कहते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं,
विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा,
धृतिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता १८/३५)

जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को पुनः पुनः दुहराता है वह धृति तामसी कहलाती है। जब तक देह-बुद्धि रहती है, तब तक हर प्रकार का भय विद्यमान रहता है। देह-बुद्धि अभिमानवश रहती है। 'मैं' जितना स्थूल होगा भय भी उतना ही बड़ा होगा। आत्म-साक्षात्कार होने पर प्रज्ञालोक प्रकाशित हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की दशा में 'मैं' विगलित तथा विसर्जित हो जाता है। अहम् के बिना देह का जन्म-मरण जन्य दुःख नहीं होता। गुणातीत अवस्था में त्रिगुणों की सुख-दुःख मोहात्मक अवस्था का अनुभव न होने के कारण योगी को मृत्यु एक महोत्सव की तरह तथा पुराने वस्त्र बदलकर नवीन वस्त्र धारण करने की भाँति प्रतीत होती है। योगी देह प्रकृति से मुक्त होने पर प्रकृति जन्य गुणों से व्याकुल नहीं होते। जब तक जीवन प्रकृति के साथ रला-मिला है, तब तक वह भावापन्न तथा भय, शोक, मोह और विषादयुक्त बना रहता है। ज्यों-ज्यों धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से जीवन सतोगुणयुक्त बनता जाता है, त्यों-त्यों उनमें मृत्यु का भय कम होता जाता है।

अज्ञानी अविद्या के प्रभाव के कारण चिदांश की अल्प-शक्ति से अनुभव तो कर लेता है कि मरने में भयंकर दुःख होता है। मरना तो दूर कोई मारने को उद्यत दिखाई पड़ जाय तब भी मृत्यु-भय से थर-थर काँप उठता है। सामान्य ज्वर हो जाय या ऑप-

रेशन के पहले अपने जीवन की अन्तिम के विषय में डाक्टर द्वारा सामने रखे कागज को देखकर आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है और हस्ताक्षर करते वक्त लगता है कि हम मर रहे हैं। जितना अज्ञान प्रबल होगा, उतना ही तमोगुण प्रबल होगा। तमोगुण के प्रबल होने पर देहाध्यास और देह-जनित सम्बन्धों की आसक्ति दृढ़ होती है। ऐसी स्थिति में तड़प-तड़प कर बहुत मुश्किल से प्राण निकल पाते हैं। ऐसी दशा में परिवार के आत्मीयजन गौ-दान तथा महामृत्युञ्जय या 'गोपाल सहस्र नाम' का जप-पाठ आदि कराते हैं। जिससे मरणशील प्राणी के मन, शरीर और प्राणों के परस्पर बन्धन सूक्ष्म शरीर से शिथिल हो सकें। उसके परिणाम-स्वरूप शरीरगत प्राण कर्म-संस्कारों को साथ लेकर सूक्ष्म शरीर में सिमटकर वायव्य रूप धारण कर कर्मानुसार पाप, पुण्य या तपोलोक में आवागमन करते रहें।

अज्ञानी की तरह शास्त्र-ज्ञानी को भी मृत्यु-भय व्याप्त होता है। भगवान शङ्कराचार्य कहते हैं—

ढुकृञ् करणे न हि-
न हि रक्षति मरणम्।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं,
गोविन्दं भज मूढ़मते ॥

ज्ञानी मृत्यु और जन्म को एक ही सिक्के के दो पहलू समझता अवश्य है। पर विषयों का झोंका ज्ञानको उड़ा ले जाता है तब ज्ञानी भी अज्ञानी की तरह आत्म-देह में आसक्त हो उठता है। ज्ञान दो प्रकार का है। उसी के अनुसार जीव की अन्तिम परिणति दो भिन्न प्रकार से होती है। एक ज्ञान कण्ठगत ज्ञान होता है और दूसरा आज्ञा-चक्रगत ज्ञान। पहला ज्ञानाभास है और दूसरा तत्व-बोध। तत्व-बोधका अर्थ है जहाँ तत् अर्थात् अद्वितीय आत्म चैतन्य से भिन्न किसी अन्य असत् वस्तु का अनुभव न होता हो। कण्ठगत ज्ञान मृत्यु-भय से छुटकारा नहीं दिलाता। क्योंकि वहाँ अहं रूप में आत्म-चेतन सत्ता से भिन्न अलग अन्तःकरण चतुष्टय की प्राकृतिक सत्ता विद्यमान है। आज्ञाचक्र में योगमाया का पुर है। यहाँ तक गुणों का अधिकार है। सुख, दुःख, मोहादि प्रकृति के गुण-धर्म यहाँ तक बरतते हैं। प्रकृतिके चंगुल से छुटकारा पाने के लिए उससे ऊपर अचल स्थिति करनी पड़ती है। यहीं पुरुषोत्तम योग-सिद्ध होता है। यहीं पर शिव अपनी आद्या शक्ति के साथ नित्य युक्त होकर एकरस हो रहा है। यहाँ द्वैत अनुभव करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। ॐकार स्वरूप प्रणव की अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला और कलातीत स्वरूप में नित्य स्थित हो जाने पर मृत्यु-भय नहीं होता। क्योंकि उस स्थिति में मृत्यु अर्थात् जाना और जन्म अर्थात् आना कुछ है ही नहीं। एक अखण्ड अद्वैत सत्ता सर्वत्र भरी हुई है। न कोई दूर है न पास, न कुछ प्राप्तव्य है और न अभीष्ट। फिर डर किस बात का और किससे? भय का कारण द्वितीय की अनुभूति बनी रहना है। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—"द्वितीयाद्भयं" तथा "अद्वितीयद्अभयं भवति।" परम सन्त तुलसीदास ने इसी बात को प्रकारान्तर से कहा है—

अभय होहिं जो तुम्हहिं डराहीं।

अर्थात् जिस प्रकार व्यक्ति मृत्यु से भय-भीत होता है, वैसा सहस्रार स्थित परब्रह्म से अनुभूति करले तो वहाँ सत् श्री अकाल सत्ता है। परम गुरु की सत्ता है, जहाँ काल

की गति ही नहीं। वहाँ परम गुरु के हुकम से मृत्यु भयभीत होकर संसार में भागती-फिरती है। अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए संसार में उन स्थानों पर डेरा डाल देती है, जहाँ श्रीसद्गुरु तत्व का प्रकाश नहीं पहुँचा। जिनकी अपने परमगुरु ईश्वर के चरण-कमलों में अखण्ड भक्ति तथा आत्म-समर्पण होता है, उनके पास जाते ही मृत्यु स्वयं डरती है।

हमारा शरीर ही काम, क्रोध, लोभ और मोह तथा भय का घर है। जब तक दृष्टि स्थिर नहीं होती हमारा मन विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से बाहर दौड़ता रहता है और शरीर के जिस-जिस स्थान पर मन और प्राण एकत्र होते जाते हैं, वहाँ कहीं काम की अनुभूति होती है तो कहीं क्रोध की, मोह की या भय की। उदाहरणार्थ हमारी त्वचा ही मोह का कारण है, इसी में मोहमयी आसक्ति होती है। कहीं किसी सुन्दर रूप को देखा, मोहमय आकर्षण पैदा हो गया। कुम्भक के द्वारा त्वक् में स्थित मोहमय आकर्षण का शोधन होता है। कुम्भक के द्वारा हृदय में प्राण का दबाव पड़ने पर मोहमय आवरण दूर होकर हृदय-ग्रन्थि का भेद होकर दिव्य-ज्ञानका संचार होता है। इसी प्रकार अन्यान्य यौगिक क्रियाओं से शरीर के विभिन्न केन्द्रों में स्थित विभिन्न विकार परिशुद्ध हो जाते हैं, उनका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

समाधि-सिद्धि हो जाने पर मृत्यु में एकत्व स्थिति हो जाता है। समाधि महामृत्यु है। एक काल है, उससे ज्ञानी और अज्ञानी सभी को डर लगता है, किन्तु महाकाल के साथ एकरस हो जाने पर अर्थात् गमनागमन शून्य अखण्डैक-रस अवस्था का साधर्म्य प्राप्त कर सृष्टि के प्रारम्भ और अन्त में जन्म और मरण से मुक्त बने रहते हैं। हमारे योगसिद्ध आचार्य स्थान-स्थान पर स्पष्ट करते हैं कि हमारे भय के मूलमें हमारा लगाव या बन्धन है, इसे स्नेह भी कह सकते हैं। प्रायः दैनिक व्यवहार में देखा जाता है कि जिससे हमारा मोह या लगाव या आसक्ति का भाव अधिक होता है, उसके अमंगल की भी सबसे अधिक आशङ्का होती है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने कहा भी है—"अतिस्नेहः पापशङ्की।" अपने बच्चे पर अधिक प्रेम होता है। यदि घर पहुँचने में उसे तनिक भी विलम्ब हो जाय तो माँ यही सोचकर रोती है कि कहीं वह दुर्घटना-ग्रस्त न हो गया हो हालांकि सत्य यह होता कि, वह दोस्तों के साथ खेल में इतना मग्न है कि वह देह और गेह दोनों को ही भूल गया है।

काम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-मूलक होता है और क्रोध का भूतकालिक पद्धतियाँ तथा लोभ और भय भविष्य-मूलक होते हैं। रंकसे लेकर इन्द्र तक प्राप्त वस्तु का कल नाश हो जावेगा, इस भावनासे आज भी भयभीत है। भय का मूल आसक्ति में है, आसक्ति असल में स्थूल देह नहीं होती। स्थूल देह तो सूक्ष्म की अभिव्यक्ति मात्र है। सूक्ष्म देह का शोधन भूतशुद्धि से होता है। भूतशुद्धि और चक्र-शोधन इन प्रणालियों से संस्कार रूपमें विद्यमान अविद्या के पंच-क्लेशों में महाक्लेश अभिनिवेश की निवृत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर में पृथ्वी तकके विद्यमान रहने तक भय पीछा नहीं छोड़ता। श्वास की दायीं गति पिंगला गति मानी जाती है जो कि नाभि तक होती है। इसमें तमोगुण और रजोगुण प्रवाहित होता रहता है। इड़ा नाड़ी की गति बायीं नासिका-रन्ध्र से होती है, इसकी गति हृदय से भूचक्र-पर्यन्त होती है। इनके मध्य में

(● शेष पृष्ठ १३ पर)

नाभि-चालन

● श्री सद्गुरुदेवजी द्वारा

जीवन तत्व साधन की चौथी क्रिया का नाम नाभि-चालन है। इसमें दांये से बांये व बांये से दांये बदलने की क्रिया की जाती है। इसमें दांयेसे बांये से दांये करवट बदलने की क्रिया की जाती है। इसका यथार्थ रूप यह है कि जिस तरह कोई मगर-मच्छ किसी जीव का भक्षण करके बाहर बालू में आकर अपने पेट को इधर-उधर हिलाता है और बड़े से बड़े जीव को भी हजम कर जाता है। उसी प्रकार इस क्रियाको करके पेटकी अग्नि को तीव्र किया जाता है। इस क्रियाकी विधि यह है कि पहले चित्त लेट जाओ। हाथ बगल में पड़े रहें, दोनों पैरों को मिला लो। अब बायीं ओर करवट लो, मगर पेट के नीचे का ही भाग घूमे, छाती कुछ उठेगी और दाहिना कन्धा भी कुछ उठ जायेगा। सिर बाकायदा एक ही जगह पर ही कायम रहेगा, बायीं करवट लेने के तुरन्त बाद दाहिनी करवट ले लो। इसमें भी धड़ का भाग ही घूमेगा सिर एक जगह रहेगा। इसी तरह बांये व दांये करवट बदलता, रहे कहीं रुकने की जरूरत नहीं, लगातार पल्टा खाता रहे। इस क्रिया को कम से कम पन्द्रह मिनट करनी चाहिए और अधिकतम आधे घण्टे तक किया जा सकता है। यदि गिनती से इस क्रिया को किया जाय तो पन्द्रह मिनट में एक हजार बार करवट बदलना पड़ेगा।

इस क्रिया को करने से भूख अधिक लगती है, खाना भी हजम हो जाता है, मन्दाग्नि समाप्त हो जाती है। जिनके पेट में हवा बनती है, वह बननी बन्द हो जाती है।

जो भोजन मुख में जाता है उसे पहले दाँतों से चबाया जाता है, फिर वह गले के रास्ते से पेट में जाता है। पेट या पाक-स्थली या आमाशय एक नाशपाती की शक्ल की एक खोखली थैली जैसा है। यह बांये ओर के उदर गह्वर के ऊपरी भाग में और उदर वक्ष व्यवधायक के ठीक नीचे की ओर है। पाक-स्थली के तीन प्रधान स्तर है। सबके ऊपर वाला स्तर (Perionem) है, इसके द्वारा यह उदर प्राचीर से संयुक्त रहता है तथा लसिका का रिसाव ठीक करने में सहायता करता है। दूसरा मध्यस्तर (Muscular Coat) है, यह माँसपेशी का बना है। पाकस्थली में भोजन का पदार्थ जाते ही ये सब माँसपेशियाँ एक के बाद एक संकुचित होकर लहरें-सी उठने लगती हैं जिससे खाया हुआ पदार्थ तुरन्त चूर-चूर हो जाता है। तीसरा अन्तरतम स्तर (Mucous Coat) हैं। इससे रस स्राव होता है, अधिक रस निकलने के लिए इसमें श्लैष्मिक झिल्ली के बहुत से छोटे-छोटे छिद्र हैं। इसकी सेलों में कोई रक्त-वाहिनी नहीं होती है, परन्तु इसकी जड़ तक

बहुत-सी रक्तवाहिनियाँ जाती हैं। श्लेष्मिक झिल्ली का कार्य रक्त-स्राव करना है।

पेट के अन्दर झिल्ली में एक प्रकार का नमक उत्पन्न होता है, जिसे (Hydrochloric acid) कहते हैं। साथ ही (Pepsin) और (Ranet) नाम के दो रस और होते हैं, जो कि भोजन के साथ मिलकर उसे पाचन योग्य बना देते हैं। उसके बाद भोजन बारीक होकर आँतों में चला जाता है। जब भोजन को दाँतों से अच्छी तरह नहीं चबाया, तब पेट का काम बढ़ जाता है और उसकी शक्ति

(● पृष्ठ ११ का शेष)

सुषुम्ना नाड़ी है, जिसकी गति सूक्ष्म, अन्तर्मुखी तथा आपाद मस्तिष्क होती है। सुषुम्नाके द्वारा उदानवायु, ऊर्ध्वगामी होकर आज्ञाचक्र में स्थिर होती है तो उदान वायु जय से पृथ्वी तत्व का भारीपन दूर होकर शरीर को लघुत्व बनाकर इच्छा-मृत्यु की सामर्थ्य प्राप्त होती है। दृढ़ योगाभ्यासी योगियों में आजकल भी इच्छा-मृत्यु देखी जाती है। चटपट कुशासन पर बैठकर ॐकार को दीर्घ श्वास लेकर प्राणों को शरीर से इस प्रकार निकाल देते हैं, जैसे कि मूँज, घास में से सींक को खींचकर आसानी से अलग कर देते हैं। न मृत्यु-भय न कोई झंझट। इसी प्रकार मूलाधार चक्रके पश्चात् स्वाधिष्ठान चक्र में जल-तत्व पर अधिकार होने पर मल शुद्धि होती है। जल-तत्व से मोह निवृत्ति मानी जाती है। इसी प्रकार नाभि-चक्र में समानवायु जय से अग्नि-तत्व से जुड़ा क्रोध आत्म-वश में हो जाता है। अनाहत-चक्र में वायु-तत्वजय से तत्रस्थ कामजय तथा विशुद्ध चक्रमें आकाश-तत्व से सम्बद्ध लोभ भी इसी भूतशुद्धि द्वारा वशी होता है। ●

होने लगती है। व्यायाम न करने से अथवा अधिक खाने व गरिष्ठ भोजन करने से तथा अधिक मिर्च, मशाला खाने से पाचन प्रणाली बिगड़ जाती है, मन्दाग्नि हो जाती है, भूख कम लगती है, खाना ठीक तरह हजम नहीं होता और पाचन-प्रणाली बिगड़ने से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। इन रोगों को दूर करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की दवायें खाता है लेकिन उससे क्षणिक लाभ होता है।

नाभि-चालन क्रिया करने से आमाशय को बड़ी शक्ति मिलती है। उसकी झिल्लियों से निकलने वाली पेप्सिन व रेनट रस की मात्रा भी बढ़ जाती है और मन्दाग्नि दूर होकर भूख लगने लगती है और भोजन अच्छी तरह पच जाता है। जब पाचन-प्रणाली ठीक हो जाती है तब शरीर के अन्य रोग भी दूर हो जाते हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि—

अहं वैश्वानरो भूत्वा,
प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः,
पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।

अर्थ—मैं सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य ऐसे चार प्रकार के अन्न होते हैं चबाकर खाया जाता है। वह भक्ष्य है जैसे रोटी आदि जो निकल जाता है वह भोज्य जैसे दूध आदि जो चटाया जाता है वह लेह्य है जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है वह चोष्य है जैसे गन्ना आदि भोजन के सभी पदार्थ इन्हीं चार के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनका पाचन पेट की अग्नि तभी करती है, जब वह प्राण व अपान वायु से युक्त हो जाती है। जब अन्न मन्द पड़

जाती है। तब प्राण अपान से युक्त होकर भी भोजन को नहीं पचा पाती। नाभि-चालन क्रिया की यह विशेषता है कि साधक की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और उसका संयोग प्राण व अपान से भी हो जाता है। यही कारण है कि इस क्रिया को अधिक मात्रा में करने वाले साधक की वैश्वानर अग्नि इतनी तेज हो जाती है कि वह चाहे कच्ची दाल, कच्ची सब्जी आदि कुछ भी खाये सब हजम हो जाता है।

नाभि-चालन क्रिया से एक और लाभ अनुभव में आता है। जब हम इस क्रिया को काफी देर तक करते है तो मूलाधार चक्र पर बार-बार धक्का लगता है और वहाँ पर सोई कुण्डलिनी जाग जाती है और ऊपर चढ़ने लगती है। कुण्डलिनी के जाग्रत होने से क्या लाभ होता है इसे योगी लोग जानते हैं। इसी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए योगी जन अनेक प्रकार की हठयोग की क्रियाएँ करते है। इस विषय को हम विस्तार से आगे समझाने का प्रयास करेंगे।

कुण्डलिनी

कुण्डली कुटिला कारा,
सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन,
स मुक्तो नात्र संशयः।

अर्थ—कुण्डलिनी साँप की तरह चक्कर मारकर बैठी हुई है, जो इस शक्ति को चलायमान कर लेता है वह मुक्त हो जाता है। इसमें संशय नहीं है।

कुण्डलिनी का स्थान बताने में सबकी भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। कोई Para-Sympathetic System में अथवा कोई Inferior Vena Cave में बताता है। हठयोग वाले बताते हैं कि कुण्डलिनी कुण्डा के पास साँप की तरह कुण्डल मारकर बैठी हुई है और उसकी दुम मूलाधार चक्र में स्थित है। कुंडा का स्थान नाभि और लिंग के बीच में बताते हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों का मत है कि कुण्डलिनी मणिपूरक चक्र में पहली और दूसरी Lumber Vertibra के बीच में Conus Medularis के पास स्थित है। कुण्डलिनी जिस समय जाग्रत होती है, उस समय अपना कुण्डल छोड़कर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ती है और छः चक्रों को भेदती हुई तालुवेध चक्र (Cunervous Plexus) से होकर आज्ञा-चक्र में आ मिलती है। यह चक्र Fifth Cranial Nerve के आँखों वाले बीचका Nase-Ciliary बहाव है। इसका अन्त पुतली के Ciliry मांस पेशियों में नाक की जड़ पर Supera orbital foramen में होता है, यही मनुष्यके मस्तिष्क में तृतीय नेत्र का स्थान है। यहाँ से कुण्डलिनी ब्राह्म चक्र Cerebrum plexus में आती है। उस समय मस्तिष्क का विकास हो जाता है और योगी की आत्मा स्वतन्त्र हो जाती है।

कुछ पश्चिमी विद्वान कुण्डलिनीको (Scrpnt-power) के नाम से पुकारते हैं और (Vagus nerve) ही को कुण्डलिनी कहते हैं। (Vagus या pneumogastric) अथवा (Tenth Cranial nerve) मस्तिष्क के पिछले भाग से निकलती है और उसकी बहुत सी शाखायें हो जाती हैं, इस स्नायु में ही केवल (Efferent) और (Offerent) दोनों प्रकार के तन्तु होते हैं। जब यह (Fourth ventricle) के (Grey matter) से निकलकर Jugular foreman) से बाहर आती है तब उसमें एक प्रकार की सूजन होती है जिसे jugular ganglion) कहते हैं।

श्री गुरुचरणों में समर्पित—

श्रद्धा सुमन

(१)

सद्गुरु नाम की धुन हम सुनायेंगे जरूर।
चाहे मंजिल से पहले छलावा मिले ।।
चाहे तूफां मिले चाहे हरियाली ।
हम तो सद्गुरु के भक्तों की हैं टोलियाँ ।।
हर हालत में होगी अपनी रखवाली ।
सद्गुरु-सागर से प्यास बुझायेंगे जरूर ।।
हमें जाना है जहाँ पे वहाँ जायेंगे जरूर ।
सद्गुरु नाम की धुन हम सुनायेंगे जरूर ।
हमको मालूम है अपनी दुश्वारियाँ ।।
रोक सकता नहीं कोई ये सिलसिला ।
है हमारे दिलों में जो सच्ची लगन ।।
बढ़ता ही जायेगा ये तेरा काफिला ।
अपने साथियों का हौसला बढ़ायेंगे जरूर ।।
सच्चे भक्तों को अपने संग लायेंगे जरूर।

—अशोक गुप्ता, मेरठ

(२)

सलामत रहे नूरी जलवा तुम्हारा,
ऐ मालिक मैं तुमसे दुआ माँगता हूँ ।
यह सत्संग गुलशन सदा चहचहाये,
ऐ सद्गुरु मैं तुमसे यही माँगता हूँ ।
सदा खुश रहो तुम यही कामना है,
हमारी उमर भी लग जाय तुमको ।
इन प्रेमियों पर रहे तेरी साया,
यही एक कृपा की भीख माँगता हूँ।
मुझे नाम सुमिरन की पूँजी बताकर,
अकीदत भरा आसरा माँगता है ।

—दिनेश कुमार, चौहान
मण्डी हिमाचल

नोट—हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण उपरोक्त दोनों रचना प्रेषकों की रचनाओं के कुछ अंश ही दे पा रहे हैं। —सं०

शत्-शत् प्रणाम

(३)

योग-प्रचार मण्डल मुरैना के गुरु-भाई-बहनों को यह जानकर हार्दिक वेदना हुई है कि परम श्रद्धास्पद अनन्त श्री गुरुदेव भगवान अपने पाँच-भौतिक शरीर से अब इस जगत में नहीं रहे।

२६ जून १६६० को लगभग रात्रि के ८ बजे यह दुःखद समाचार मिलते ही मैं, मेरे साथी ओमप्रकाश व अन्य गुरु-भाई-बहिन सभी ने गुरुजी के दर्शन करने को आगरा चलने का निश्चय किया। २७ जून १६६० को प्रातः ८ बजे हम आश्रम पहुँच गए। शोकाकुल दादा केशवदेव और अन्य ब्रह्मचारियों ने हमें बताया कि २६ जून को साय ही गुरुदेवजी का पार्थिव शरीर यहाँसे हरद्वार ले जाया जा चुका है, तब हम सबने हरिद्वार पहुँचना असम्भव समझ कर वहीं बैठकर उनका नाम-स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और कुछ देर बैठने के बाद दुःखी मन से निराश होकर वापस चले आये। हम सब उनको शत्-शत् प्रणाम करते हैं, और आशा रखते हैं कि वे जहाँ भी हैं वहीं से ही अपनी कृपा हम सब बालकों पर बरसाते रहेंगे।

—शोकाकुल
श्रीराम गुप्त
योग-प्रचार मण्डल, (मुरैना)

★

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

चन्दन या तगर कमल या जुही इन सभी की सुगन्ध से शील की सुगन्ध उत्तम होती है। क्योंकि चन्दन तगर जुही आदि की गन्ध तो केवल नाक तक पहुँचती है परन्तु शीलवान पुरुष की सुगन्ध बहुत ऊँची और अति दूर नाक (स्वर्ग) तक देवों के समीप तक जा पहुँचती है।

× × × ×

भले ही कोई बहुत सी संहितायें कण्ठाग्र करले किन्तु स्वयं यदि उन्हें अपने आचरण में न उतारे तो वह औरों की गायें चराने वाले से अधिक अपना अस्तित्व नहीं रखता।

× × × ×

यदि साथ चलने वाला कोई सदाचारी, बुद्धिमान और अनुभवी साथी मिल जाय तो सब ऊहापोह को छोड़कर मनुष्य उसी के साथ चल दे। यदि ऐसा साथी न मिले तो फिर अकेला ही चलना ठीक रहता है, बजाय इसके किसी अबुद्धिमान या मूढ़ पुरुष को अपना साथी बनाया जाय।

× × × ×

संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, न अन्तरिक्ष में न समुद्र के गर्भ में न पर्वतों की गुफाओं में कि जहाँ पहुँचकर छिप जाने से मनुष्य अपने किये हुए पाप-कर्मों का फल भोगने से बचा रह सके।

× × × ×

उस काम का करना ठीक नहीं जिसके करने पर उसे पश्चात्ताप करना पड़े या आँसू बहाने पड़ें।

× × × ×

पुण्य (कर्म) करने में शीघ्रता करे। पाप (कर्म) से चित्त को निवृत्त करे। पुण्य (कर्म) करने में आलस्य या शिथिलता करने वाले का मन पाप में रमने लगता है।

× × × ×

जागने वाले के लिए रात लम्बी होती है। थके हुए के लिए योजन भी लम्बा होता है। (वैसे ही) सद्धर्म को न जानने वाले अज्ञ लोगों के लिए (जन्म-मृत्यु-परंपरा-रूप) संसार बड़ा लम्बा होता है।

× × × ×

'पुत्र मेरे हैं', 'धन मेरा है', यों कहकर मूढ़ चिन्तातुर होता है। पर जहाँ शरीर भी अपना नहीं, वहाँ पुत्र और धन कैसे अपना होगा? —भगवान् बुद्ध

गताङ्क से आगे—२

सर्प के फन पर नृत्य

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

गुरु की आज्ञानुसार मन्युहर पश्चिम के अरण्य में गया और जिस दिशा की ओर वट का वृक्ष था, उस दिशा को चलने लगा। मार्ग में मिलने वाले सभी स्त्री-पुरुषों ने इस साधु पुरुष से कहा—हे महाराज ! इस तरफ एक अति विकराल विष की ज्वाला बरसाने वाला बड़ा सर्प रहता है। किसी मनुष्य की गन्ध पाते ही वह अपने फण में से ऐसी विष की ज्वाला बर्षाता है कि इन विष भरी ज्वालाओं से कोई भी पुरुष जल कर भस्म हो जाता है। अतएव हे साधु महाराज ! आप इस मार्ग पर न जाओ। कदाचित वहाँ कोई जाता है तो वह सर्प क्रोध से उसे दंश कर उसका नाश कर देता है।

लोगों के मुख से यह वृतान्त जानकर उन्हें आश्वासन देकर वह शिष्य धीरे-धीरे आगे बढ़ा। गुरु-स्मरण करता-करता और प्रणव-जाप जपता हुआ ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ा, त्यों-त्यों चारों ओर से व्याकुल करने वाली विष की ज्वालायें बरसने लगीं। गुरु के वचन पर परम श्रद्धालु शिष्य उस पीड़ा की कुछ भी पर्वाह न कर उस वृक्ष के पास जा पहुँचा। सर्प अपने फण से ऐसी फुस्कारें मारने लगा, जिससे आसपास का सब स्थान विषमय हो गया। पर मन्युहर ने उसकी कुछ भी दहशत नहीं की। अपने तपोबल के कारण सर्प की बांबी के पास जा खड़ा हुआ और सर्प से कहने लगा—हे कद्रुकुमार ! तुममें जितना बल हो उतना मुझ पर आजमाओ, तुम्हारी लीला देखने को उत्सुक हूं। क्रोध की साक्षात् मूर्तिरूप वह सर्पराज बिल में से बाहर निकला। तुरन्त मन्युहर ने उसके फन पर पाँव रखा। सर्प ने विषमय दंश का वार किया, पर मन्युहर जरा भी कोपायमान नहीं होकर उल्टा सर्प को पुचकारने लगा।

सर्पराज अपनी पूंछ से उसके शरीर पर झपाटे मारने लगा और दांव पाते ही उसके शरीर पर चढ़ गया और सारे शरीर पर दंश के अनेक घाव कर दिए। प्रथम हाथ पर मुह मारा तब मन्युहर ने दूसरा कोमल हल्का हाथ उसके अंग पर फेरा पर ज्यों-ज्यों मन्युहर उसको प्यार करने लगा, त्यों-त्यों वह सर्प और भी अधिक क्रोधांध होता गया और उसने उसके सारे अंग को घायल कर दिया उसने मुँह की ओर अपना फण लाकर मन्युहर के मुख में विष छोड़ दिया। कान, नाक और आँख पर दंश किया, पर मन्युहर उसे पुचकारता ही गया।

उसके जबड़े थक गये पर मन्युहर को कुछ भी न हुआ न क्रोध आया और न विष का असर हुआ, तब तो आश्चर्यपूर्वक सर्प उसके सामने आकर फूत्कार करने लगा। सर्प को विशेष रूप से छेड़ने को मन्युहर ने उसके फण पर पुनः पैर रखा। क्रोधांध सर्प क्षण भर में फिर मन्युहर से लिपट गया। परन्तु उससे मन्युहर को जरा भी क्रोध और

भय नहीं हुआ। फिर मन्युहरने सर्प को अपने तूँबड़े में से दूध पिलाया। पर सर्प ने वह दूध पीकर भी विष मिला हुआ दूध उसके मुख पर उँडेल दिया और गले पर जोर से लिपट गया। अब मन्युहर बेहोश होकर गिर पड़ा।

पर सावधान होकर क्रोध किये बिना सर्प को पुचकारता ही गया। सर्पराज ने उसे अनेक प्रकार से व्याकुल किया, पर सर्प को पीछे हटाने का उसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया, अन्त में सर्प ने अपनी लपेट छोड़ दी। तब मन्युहर ने अपनी झोलीमें से पुष्प निकाले और सर्प पर वर्षाये और सर्प को शांत करने का प्रयत्न किया। पर ज्यों-ज्यों मन्युहर सर्प पर प्यार करता गया, त्यों-त्यों सर्प अधिक-अधिक खीजता गया और मन्युहर को पीड़ा देने लगा। तथापि वह शान्त ही रहा, उल्टा सर्पराज का क्रोध शान्त करनेको उसके शरीर पर हाथ फेरने लगा पर सर्प शान्त न होकर उल्टा दंश देने लगा।

मनुष्य का साधारण स्वभाव होता है कि वह यदि किसी का कल्याण व उपकार करे और दूसरा उसके बदले अपकार करे तो वह सहज ही क्रोधमें डूब जाता है। क्षण भर तो उसकी भले ही उपेक्षा करदे, पर उपकार-कल्याण-आश्वासन के बदले में बारम्बार तुच्छकार तिरस्कार हो, कृतघ्नता देखी जाय, तब तो कोई भी क्रोध वश हो जाता है और अपना क्रोध प्रकट करने लगता है। यदि काटना न हो तो फुत्कार तो मारना ही चाहिए। इस प्रकार कृत्रिम क्रोध भी दर्शाता है। परन्तु मन्युहर सर्प से हर प्रकार की तुच्छकार-तिरस्कार और वैर के दंश और कृतघ्नता पाकर भी बिल्कुल क्रोधित नहीं हुआ, वह शान्त चित्त ही रहा।

बहुत देर तक सर्प क्रोध में भरकर विष की ज्वाला बरसाता हुआ दूर जाकर खड़ा रहा। तब मन्युहर ने फिर उसके फण से पग लगाया तो पुनः सर्प ने दंश दिया और लिपट गया। पर वह मन्युहर तो पुनः-पुनः आश्वासन ही करता गया। इस कारण सर्पराज का गर्व जाता रहा और धीरे-धीरे वह मन्युहर के शरीर पर से छूट गया और ज्योंही उसने पग आगे बढ़ाया कि वह सर्प तुरन्त अपने बिल में प्रवेश कर गया।

क्रोध से और मन्युहर को मारने के श्रम से थककर लथपथ हुआ सर्पराज अत्यन्त फुत्कार मारता रहता था। पर उसकी विषमय ज्वाला उस पर कुछ असर नहीं कर सकी। इस विचार से वह स्तब्ध हो गया था कि इस मनुष्य को मैंने अनेक दंश दिए, पर इसे बिल्कुल क्रोध नहीं आया। मेरे खिझाने से वह किसी प्रकार नहीं खीझा इस विचार में वह लीन हो गया।

दूसरे दिन वह सर्प अपने बिल से बाहर निकला और सरसराता हुआ जहाँ मन्युहर बैठा था, वहाँ जाकर उसके शरीर से लिपट कर उसने विष भरी ज्वालाओं से ऐसी फुतकार मारी कि जिससे प्राणी तुरन्त भस्म हो जाय। पूर्व दिवस के उपकार को भूलकर सर्प अपनी जाति पर ही गया। इस विचार से प्रत्येक को क्रोध आ सकता था, परन्तु मन्युहर को इससे भी कुछ क्रोध न आया। पूर्व दिवस की भाँति ही वह सर्प विष की ज्वाला बरसाते-बरसाते थक गया, तब तक मन्युहर उसका आश्वासन ही करता रहा, फिर जब वह सर्पराज थककर बिल में प्रवेश करना ही चाहता था कि तुरन्त मन्युहर ने उसकी पूँछ पकड़ कर पीछे की ओर खींच लिया और उसे दूध पिलाकर पुष्प वर्षाये।

पर इससे वह कृष्ण सर्प और भी अधिक चिढ़ा और मन्युहर के शरीर पर उसने जोर से डंस दिया। इधर ज्योंही वह डसता, त्योंही मन्युहर उसके फण से जरा पाँव लगा दिया करता और सर्प बार-बार डसा करता। ऐसा अनेक बार होने पर भी मन्युहर को जरा भी क्रोध न आया। तब थककर वह सर्प पुनः बिल में चला गया।

यह क्रम कई दिन तक चलता रहा। सर्प डसता और मन्युहर उसे जैसे-जैसे सुख देता वैसे ही वैसे सर्पराज अधिक दंश करनेमें अपनी सर्व सामर्थ्य लगाता। एक दिवस सर्पराज ने मन्युहर को जकड़कर उसकी श्वास रोक ली और मुख, नाक और आँख पर फण फैलाकर बैठ गया। पर मन्युहर को क्रोध नहीं आया। सर्प भी सारे दिन के श्रम से थक गया था, इससे वह अपनी लपेट छोड़ बिल में जाने को तैयार हुआ। तब मन्युहर ने उसके फण में फिर पाँव लगाया, पर वह निःसत्व बना हुआ सर्पराज विष की ज्वाला बरसाने में असमर्थ हो गया। अतएव निरुपाय होकर फण थोड़ा किये खड़ा रह गया। ऐसा जान पड़ता था कि मानो मन्युहर को वह प्रणाम करता है। मन्युहर उसके फण पर खड़ा रहा। सर्प का फण काँपने लगा। उस समय मन्युहर को ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो काली-दमन के समय काली-नाग के फण पर श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हों। उसे क्रोध पर विजय प्राप्त हुई और महा-क्रोधी तथा द्वेषी ऐसे सर्प को भी उसने अक्रोधी बना दिया। उस दिन से सर्पराज नित्य अपने बिल में से बाहर आकर मन्युहर के चरणों में प्रणाम करता था।

गुरु-वचन और तपोबल के प्रताप से उसे कभी गर्व नहीं आया। चातुर्मास-पर्यन्त मन्युहर ने सर्प के फण पर नृत्य करने का नियम बना रखा था और मन्युहर के क्रोधित करने पर वह समय-समय पर उसे डस लेता था, पर मन्युहर जरा भी क्रोध नहीं करता था, उल्टे पुचकारता, दूध पिलाता और पास बिठलाता था।

इस प्रकार क्रोध रहित वह शिष्य अपने गुरु-प्रताप की दिन-रात प्रशंसा किया करता था।

नरक के तीन दरवाजे

काम, क्रोध और लोभ

एक बार कुन्तीपुत्र अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से नरक का परिचय जानने की जिज्ञासा की। भगवान ने कहा—अर्जुन नरक के तीन बड़े-बड़े दरवाजे हैं, काम, क्रोध और लोभ। इनसे सदा बचकर रहना चाहिए। जो काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत हो जाते हैं वे निश्चय ही नरक की पीड़ादायिनी नगरी में प्रवेश कर जाते हैं।

—गीता

शब्द-शक्ति की उपासना

जैसे जिह्वा की एक शक्ति है स्वाद पहचानना, वैसे ही दूसरी शक्ति है शब्द-शक्ति। अगर हम उस शक्ति का ध्यान रखकर ठीक से उपयोग करें, तो प्रज्ञा स्थिर होने में बड़ी मदद मिलेगी। जहाँ शब्द-शक्ति खतम होती है, वहाँ शास्त्र-शक्ति का आधार रह जाता है। दुनिया में दो ही शक्तियाँ हैं—(१) शस्त्र-शक्ति और (२) शब्द-शक्ति।

शब्द में बहुत शक्ति है। शंकराचार्य ने एक जगह प्रश्नोत्तर रूप में बोध दिया है—'केषां अमोघवचनम्?' किसका वचन अमोघ, यानी व्यर्थ न जाने वाला, हो सकता है? उत्तर दिया—ये च पुनः सत्य-मौन-शम-शीलाः—जो सत्यनिष्ठ हैं, मौननिष्ठ हैं, समशील हैं, उनकी वाणी अमोघ होगी। वाणी में सत्य होगा, मौन यानी बोलने के पहले मनन होगा, शम यानी शान्ति होगी तब शब्द-शक्ति बनेगी और वचन अमोघ होगा। ऐसे व्यक्ति के मुँह से शब्द निकलेगा, वह सही होगा। 'सा वै देवी वाक्'—यह जो बोलता है, वह होता ही है। यह चमत्कार या सिद्धि की बात नहीं है, यह वाचा-शुद्धि की बात है।

योगदर्शन के ऋषि ने भी कहा है कि जब वाणी में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है तब वाणी फलवती हो जाती है। वाणी में सत्य प्रतिष्ठित कर लेना ही शब्दशक्ति की उपासना कही जाती है।

आज हमने शब्द-शक्ति लगभग खो दी है, यही कहना पड़ेगा। निकटतम अतीत से पहले एक रिवाज ही पड़ गया था कि भाषा में पेंच हो ताकि हमें जो बात कहनी है, वह लोगों से कह भी दें और कानून से भी बच जायें। इस प्रकार वाणी की कवायद प्रायः लोग करते थे और वह कुशलता मानी जाती थी। लेकिन गांधीजी आये और वे ऋजु वाणी लाये। हम जो जो बोलते हैं, वही बात हमारे मन में होनी चाहिए। आप अगर जनशक्ति पैदा करना चाहते हैं तो वह उस पेंच से नहीं होने वाली। अगर षड्यन्त्र करना चाहते हों, चन्द लोगों के द्वारा काम करवाना चाहते हों, जनता को एक ओर रख करके काम करना चाहते हों, तो पेंच वाली वाणी काम आ सकती है। लेकिन जनता का समाज का उत्थान चाहते हों, तो वाणी लोगों के हृदय में सीधी पहुँचनी चाहिए। गांधीजी ने यह ऋषि परम्परा पुनः चलायी।

इसलिए जैसे अस्वाद-व्रत होता है, वैसे वाक्-संयम भी व्रत होना चाहिए। बहुत साल पहले उसका एक बड़ा जोरदार पहलू मेरे ध्यान में आया और मैंने कहा कि अनिंदा का भी व्रत होना चाहिए। वह है तो अहिंसा का ही अंग, लेकिन उसकी इतनी आवश्यकता है कि वह एक स्वतन्त्र व्रत के रूप में होना चाहिए। किसी की निंदा न करें, निंदा से दुनियाभर का कचरा हमारे हृदय में इकट्ठा होता है। बाहर से निंदा न करें, परन्तु मन में वह चीज आये, तो भी उसका कोई अर्थ नहीं। निंदा न की जाये, इसका अर्थ इतना स्थूल नहीं कि मन में भले ही निंदा का भाव आये, पर वाणी में उसे प्रकट न किया जाये। वैसे वह बाहर प्रकट न हो, तो वह भी कुछ अवश्य है—इतना अंकुश रखा, यह तो माना ही जायेगा। लेकिन वह पर्याप्त नहीं। इससे काम नहीं बनता। हृदय-शुद्धि और शब्द-शक्ति का काम तब बनेगा जब सभी के गुणों को देखने का, ग्रहण करने का अभ्यास होगा।

शब्द-शक्ति के लिए अनिन्दा-व्रत की बहुत आवश्यकता है। ● आचार्य विनोबा

● श्री केशव उपाध्याय

प्रेरक-प्रसंग

(१)

एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर के पास एक ब्राह्मण याचना हेतु आया। महाराज युधिष्ठिर उस समय अपने राज्यकार्य में अत्यधिक व्यस्त थे। ब्राह्मण याचक की पूरी बात सुनने के बाद धर्मराज युधिष्ठिर ने नम्रतापूर्वक उनसे दूसरे दिन (अगले दिन) आने का निवेदन किया। ब्राह्मणयाचक उनका निवेदन स्वीकार कर चला गया। इसके पश्चात् भीमसेन, जो यह सब वार्तालाप सुन रहे थे, अपने स्थान से उठे और राज्य-सभा के मुख्य द्वार पर रखी हुई दुन्दुभी बजाने लगे। उन्होंने राज्य सेवकों को भी मंगल वाद्य बजाने की आज्ञा प्रदान कर दी। असमय में मंगल वाद्य की आवाज को सुनकर महाराज युधिष्ठिर आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने अपने सेवक को आज्ञा दी कि पता लगाओ, इस समय मंगल वाद्य क्यों बजाये जा रहे हैं ? सेवक ने पता लगाकर प्रार्थना की कि महाराज ! भीमसेन जी के आदेश से ऐसा हो रहा है। धर्मराज ने भीमसेन को दरबार में उपस्थित करने का आदेश दिया। भीमसेनजी के दरबार में उपस्थित होने पर धर्मराज ने उनसे असमय में मंगल वाद्य बजाने एवं बजवाने का कारण जानना चाहा।

भीमसेन ने महाराज युधिष्ठिर से प्रार्थना की कि महाराज ! हमने सुना है कि आपने काल को जीत लिया है, इससे ज्यादा मंगल और क्या हो सकता है ? उनका निवेदन सुन कर महाराज युधिष्ठिर ने साश्चर्य प्रश्न किया कि क्या कहा, मैंने कालको जीत लिया है। भीमसेन ने निवेदन किया कि हाँ महाराज ! मैंने तो यही जाना है कि आपने काल को जीत लिया है। युधिष्ठिर के आदेश पाने पर भीमसेन ने पूरी घटना पर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार निवेदन किया—

धर्मराज महाराज ! पूरा विश्व जानता है कि आपके मुख से हँसी में भी कभी असत्य बात नहीं निकलती। आज दरबार में आपने ब्राह्मण याचक को अभीष्ट दान देने हेतु कल बुलाया है। इसलिए कम से कम कल तक तो अवश्य ही काल पर आपका अधिकार होगा ही होगा। इतना कहकर भीमसेन शान्त हो गये। भीमसेन का निवेदन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर को अपनी भूल का बोध हुआ। वे बोले—भीमसेन ! तुमने आज मुझे सावधान कर दिया। पुण्य कार्य तत्काल करना चाहिए, उसे पीछे के लिए टालना ही भूल है। कारण यह है कि यह शरीर अगले क्षण रहेगा या नहीं, इसका क्या विश्वास है। महाराज युधिष्ठिर ने तत्काल ब्राह्मण याचक को बुलाकर उनका अभीष्ट दान उन्हें दिया।

(२)

स्वामी रामतीर्थ संन्यास से पूर्व लाहौर के एक कॉलेज में पढ़ाते थे। उन्होंने अपना निवास-स्थान लुहारी दरवाजा में बनाया

बनाया था। एक दिन कॉलेज से घर जाते समय उन्होंने एक व्यक्ति को नीबू बेचते हुए देखा। रस-भरे नीबू देखकर उनके मुँह में पानी भर गया। वे थोड़ी देर रुककर देखते रहे एवं फिर आगे बढ़ गये। आगे बढ़ने पर जबान फिर मचली, मन ने कहा—नीबू तो अच्छी वस्तु है, इसके खानेमें क्या हानि है ? वे पुनः नीबू बेचने वाले के पास लौटकर आ गये। लेकिन नीबू देखकर फिर घर की ओर चल दिये। थोड़ी दूर जाने के बाद उनसे न रहा गया और वे पुनः लौटकर आये तथा दो नींबू खरीद लिए। घर पहुँचकर उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी से चाकू मंगाया तथा चाकू और नीबू सामने रखकर बैठ गये। इसके पश्चात् उन्होंने एक नीबू काटा, जबान तक ले गये, परन्तु जबान में उसे लगने नहीं दिया। मन ने पुनः कहा—चखकर देखो इसका रस तो उत्तम है। स्वामी रामतीर्थ ने पुनः कटे नींबू को उठाया और जबान तक ले गये। उनकी अन्तरात्मा ने फटकार कर कहा—तू क्या जिह्वा का दास है ? जो यह जिह्वा कहेगी, वही करेगा ? जिह्वा तेरी है, तू जिह्वा का नहीं है। उनकी अन्तरात्मा की इस एक आवाज ने अध्यापक रामतीर्थ को स्वामी रामतीर्थ बनने में काफी सहायता प्रदान की।

(३)

विख्यात दार्शनिक कन्फ्यूशस अपनी शिष्य-मण्डली के साथ घूमते-घूमते अपना राज्य छोड़कर दूसरे राज्य में पहुँच गये। वे उस राज्यके राजा की राजधानी देखने उसके दरबार में चले गये। वहाँका राजा दार्शनिक कन्फ्यूशस की बड़ी प्रशंसा सुन चुका था। अतः उसने उनकी परीक्षा लेने की नीयत से तीन पिंजरे उनके सामने रखवा दिए। पहले पिंजरे में चूहा था और उसके सामने खाद्य-पदार्थों का ढेर लगा हुआ था, परन्तु वह कुछ भी नहीं खा रहा था। दूसरे पिंजरे में बिल्ली थी, उसके सामने दूध-मलाई के कटोरे भरे पड़े थे, परन्तु वह भी कुछ ग्रहण नहीं कर रही थी। तीसरे पिंजरे में एक बाज था, उसके सामने मांस के टुकड़े एकदम अनछुए पड़े हुए थे। ऐसा लगता था मानो बाज ने उस पर चोंच तक भी नहीं मारी है। कन्फ्यूशस ने यह तीनों दृश्य बड़े ही गौर से देखे। देखने के बाद उसने अपने शिष्यों से कहा, भय की महिमा देखी तुमने ? चूहा भूखा मर जायेगा, किन्तु भावी भयकी अपेक्षा उसे बाज के डर की सबसे अधिक चिन्ता है। यही हाल बिल्ली का है, उसे भी बाज के भावी भय की अपेक्षा है। बाज को सामने देखकर उसे प्रति क्षण अपनी मौत ही नजर आती है, परन्तु बाज की दशा इन दोनों से निराली है। वह कभी चूहे को चट कर जाने की सोचता है तो कभी बिल्लीको चट कर जानेको सोचता है। उसकी नजर इन दोनों पर अटकी हुई है। उसके सामने जो खाद्य-पदार्थ रखा हुआ है, उसे वह इन भावी खाद्य-पदार्थों के सामने उपेक्षित समझ रहा है। यही जीव मात्र का स्वभाव है।

फिर कन्फ्यूशस ने अपने शिष्योंका ध्यान राजा की ओर मोड़ते हुए कहा कि तीनों से मूर्ख यह वर्तमान राजा है। यह अपने ज्ञानके अहंकार में दूसरे के ज्ञान की परीक्षा लिया करता है। ऐसे लोगों की गति एक दिन उस सपेरे की सी होती है जो बीन की धुन पर सांपों को नचाया करता है, किन्तु बीन की ताल भूलकर एक दिन स्वयं सांप द्वारा डस लिया जाता है।

● श्री रामनरेश मिश्र शास्त्री

योग का महत्व

निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होकर दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों की एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति होना एवं परमानन्द की नित्य प्राप्ति होना इस जीवन का 'प्रयोजन' है। यद्यपि त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र और मंत्रशास्त्र आदि अनेक उपाय बताये गये हैं, परन्तु एक तो कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी उन समस्त उपायों को कर नहीं सकते, दूसरे कदाचित् कर भी सकें तो उनसे अवश्य ही और सदा के लिए दुःखों की निवृत्ति हो जाती हो ऐसा नियम नहीं है। कारण यह है कि जहाँ तक इस भौतिक शरीर का सम्बन्ध है वहाँ तक थोड़े जन्मोंके सुकर्मों द्वारा त्रिविध तापों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती हो यह सम्भव भी नहीं है। क्योंकि यह 'शरीर' पुण्य तथा पाप का फल है और पुण्य-पाप को दूर बहा देना साधारण पुरुषार्थ का और एक जन्म का काम नहीं है। बिना उक्त दोनों के दूर हुए यदि कोई चाहे कि मैं संसार-बन्धन से छूट जाऊँ तो उसकी चाह केवल शश-शृंग के समान ही है। इसीलिए तो पण्डितराज महाकवि श्री जगन्नाथजी ने अपनी अन्तिम अवस्था में चारों से निराश होकर व्यापक ब्रह्म से संसार-बन्धन टूटने के लिए निम्न-लिखित पद्य लिखकर प्रार्थना की है—

पातकप्रचयवन्मम तावत्,
पुण्य-पुञ्जमपि नाथ ! लुनीहि ।
काञ्चनीमपि लोहमयीं वा,
शृंखलां प्रति पदे न विशेषः ।

हे नाथ ! जैसे आपकी इस सेवक के ऊपर ऐसी कृपा-दृष्टि हुई कि जिसके द्वारा अब यह अपनेको निष्पाप समझता है वैसे ही यह भी होना चाहिए कि मुझमें जो कुछ पुण्य का अंश शेष हो वह भी दूर हो जाय अथवा नष्ट हो जाय। क्योंकि भगवन् ! जबकि आप बिना दोनों के निवृत्त हुए इस जीवको संसार से निवृत्त करते ही नहीं तो क्यों नहीं पाप की तरह इसे भी दूर भगा देते ? अर्थात् जब तक पुण्य का हिस्सा तनिक भी शेष रहेगा, तो उसी तरह मैं बन्धन में पड़ा रहूँगा। जैसे स्वर्गस्थ प्राणी अपने सात्विक पुण्य-फल को हजम करके फिर द्वन्द्व-जनित संसार-बन्धन

(● पृष्ठ २२ का शेष)

(४)

स्वामी रामतीर्थ जब प्रोफेसर थे, तब उन्होंने बोर्ड पर एक लाइन खींचकर विद्यार्थियों से कहा, "इसे बिना मिटाये छोटा कर के दिखाओ। एक चतुर विद्यार्थी अपने स्थान से उठा, उसने उस लाइन से सटे हुए एक और लाइन उससे कुछ बड़ी खींच दी।" स्वामी रामतीर्थ बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, बच्चों ! यही क्रम जीवनमें भी है, यदि तुम दूसरेसे महान बनना चाहते हो तो किसी को पीछे ढकेलने या उससे ईर्ष्या करने की आवश्यकता नहीं है। अपने गुणों और कार्यों को उससे अच्छा बनाओ, तुम स्वयं उस महान आदमी से महान बन जाओगे। ●

रूप फलको खानेके लिए विवश करके ढकेला जाता है और फिर वह संसारमें आकर छूटने का मार्ग भूलकर बन्धन की ओर ही अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इस तरह यह जीव अनन्त काल तक पाप और पुण्य के प्रवाह में पड़कर संसार-सागर में गोता खाता रहता है। आशय यह है कि जिस तरह शरीर की कान्ति अथवा सुख देने वाला सुवर्ण (सोना) होता है, पर वही सुवर्ण यदि हथकड़ी के (Handcuffs) रूप में परिणत हो जाता है तो उसी तरह बाँध रखता है जैसे लोहमय हथकड़ी बाँधे रहती है। इसी तरह लोहरूपी पाप और सुवर्णरूपी पुण्य दोनों समान बंधन कारक हैं। इसलिए अब दोनोंको दूर हटाकर मुझे मोक्ष-दान दीजिए।

इस कथन से स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि बिना पाप और पुण्य इन दोनों की निवृत्ति हुए मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए यहाँ पर जिज्ञासुजनों के हितार्थ पाप और पुण्य की उत्पत्ति का दिग्दर्शन कराता हुआ संसारजन्य सुख अथवा सुखाभास का विवेचन लिखता हूँ—

पुण्य और पाप की उत्पत्ति राग-द्वेष से होती है। पूर्वाजित एवं प्रस्तुत-शरीर सम्पादित पुण्य-पाप-जनित फलों के भोग चुकने पर भी राग-द्वेष के कारण फिर दूसरे नये पुण्य अथवा पाप उपस्थित हो जाया करते हैं। इसलिए पाप और पुण्य के जनक 'राग-द्वेष' ही हैं। इन राग-द्वेष की उत्पत्ति अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान से हुआ करती है। जिस वस्तु में अनुकूलपने का ज्ञान होता है उसमें 'राग' होता है एवं जिसमें प्रतिकूलपने का ज्ञान होता है उसमें 'द्वेष' होता है। अनुकूल और प्रतिकूलपने की उत्पत्ति भेद-ज्ञान से होती है। क्योंकि अनुकूलपना और प्रतिकूलपना उसी वस्तु में होता है जो अपने से भिन्न होती है। जैसे अपनी स्त्री अथवा अन्य जिस किसी पर अपना पूर्ण ममत्व होता है वह भोजन आदि कार्य करता है और असावधानी या अन्य किसी कारणवश त्रुटि हो जाती है तो उस पर अपनी प्रकृति एवं शक्ति के अनुसार क्रोध का वार करने लग जाता है। परन्तु जब स्वयं अपने हाथ से कुछ काम बिगड़ जाता है, तो क्रोध प्रकट करनेकी कौन कहे ? यह माया-बन्धन में जकड़ा हुआ प्राणी तनिक भी अपने मन में लज्जा या ग्लानि नहीं मानता कि यह कार्य मेरी मूर्खता के कारण हुई है, किन्तु उल्टा यह सोचकर पूर्णतया शान्ति-भावको प्राप्त हो जाता है कि "भूल अथवा असावधानी प्राणीमात्र से हुआ करती है। इसलिए मुझसे भी हो गई तो क्या हानि है ?" मतलब यह है कि राग-द्वेष का प्रयोग उसी वस्तु में किया जाता है जो अपने से भिन्न होती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस भेद ज्ञान की निवृत्ति तभी हो सकती है जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय और अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान तभी होता है जब सद्गुरु के बताये हुए योग-मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक बढ़नेके लिए सतत प्रयत्न किया जाय।

(● शेष आगामी अंक में पढ़िए)

रहिमन मनहिं लगाय कै, देखि लेहु किन कोय।
नर को वश करबो कहा, नारायण वश होय ॥ —रहीम खानखाना

ब्र० ओमप्रकाश, लखनऊ

मैं कौन हूँ ! शरीर या आत्मा

"मैं हूँ"—लेकिन "मैं कौन हूँ" "मैं क्या हूँ" ? मेरा अस्तित्व है, लेकिन मेरा अस्तित्व क्या है ? अगर मैं न होता, तो हर्ज क्या था ?—और अगर मैं हूँ, तो मेरे होने का प्रयोजन क्या है ? मैं कौन हूँ ? बस यही मैं नहीं जानता। बाकी मैं संसार की प्रायः सभी जानने योग्य बातों से परिचित हूँ। क्या मेरा नाम, मेरा व्यवसाय, मेरा पद, मेरा धन, मेरा रूप—यह सब मेरा परिचय देने के लिए पर्याप्त नहीं है ? मैं एक मनुष्य हूँ, जो एक दिन पैदा हुआ था फिर युवा हुआ और अन्त में वृद्ध होकर नष्ट हो जाता हूँ।

मैं क्या हूँ ? कौन क्या है ? जानने की लालसा जिज्ञासा तो सभी में रहती है पर "मैं क्या हूँ ? जानने की लालसा जिज्ञासा बिरलों ही के मन में होती है। कौन क्या है? जानने की लालसा जितनी ही प्रबल होती है मैं क्या हूँ ! पर उतना ही गहरा पर्दा पड़ता जाता है। कौन क्या है ?' जानने से इतना लाभ नहीं, जितना लाभ 'मैं क्या हूँ के जानने से होता है। यह नहीं जाना जाता कि मैं क्या हूँ ? मैं क्या हूँ ? जानने के बाद कुछ भी जानना फिर शेष नहीं रह जाता। कौन क्या है ? यह सब 'मैं क्या हूँ' जानने के बाद स्वतः ही ज्ञात हो जाता है, यहाँ तक कि जो परमात्मा सामान्यतः नहीं जाना जाता वह भी 'मैं' क्या हूँ' जानने के बाद ज्ञात हो जाता है। अतः 'मैं क्या हूँ' भौतिक जगत में तथा अध्यात्म जगतमें अपनी अलग-अलग भूमिका निभाता है।

भौतिक जगत में 'मैं क्या हूँ' जानने के के बजाय लोग दिखाना चाहते हैं 'मैं यह हूँ ! अर्थात् मैं भौतिक शरीर हूँ।' परिणामतः भौतिकता में और अधिक लिप्त होते जाते हैं तथा उनके स्वत्व पर 'मेरे' का परदा पड़ता जाता है। स्पष्ट ही है कि भौतिक जगत में रात-दिन पैसा कमा के जितना ही यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि 'मैं क्या हूँ ! या मैं यह हूँ उतना ही 'मैं क्या हूँ' की वास्तविकता को भूल जाते हैं। भौतिक जगत में 'मैं' 'मेरे' का रूप लेकर अपने को 'मैं' दर्शाते हैं, मेरा शरीर, मेरा मकान, मेरा लड़का, मेरी पत्नी, मेरा धन आदि—इस प्रकार मेरा क्या है ? जानने के लिए सभी दुःख बटोर रहे हैं, पर 'मैं क्या हूँ ? को जानकर आनन्द को नहीं लूट रहे हैं। मैं क्या क्या हूँ ? वस्तुतः कोई जानना ही नहीं चाहता, अपनी ओर किसी का ध्यान ही जाता। सभी दूसरों को ही अर्थात् कौन क्या है? को देखना चाहते हैं। 'मैं' को 'मेरे' का? रूप देकर गाते रहे हैं। अतः भौतिक जगत का 'मैं क्या हूँ' (मैं शरीर हूँ) या 'मैं' यह हूँ दिखाने की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत का

'मैं' (आत्मा हूँ) जानना ही श्रेयस्कर है।

प्रायः हम सभी यह मानकर चलते हैं कि शरीर और आत्मा एक है, लेकिन यह भ्रान्ति है, भ्रम है, हमें अपनी आत्मा का का कोई पता ही नहीं है, हम शरीर को ही आत्मा मानकर चलते हैं। मनुष्य दो विपरीत गुण स्वभाव की वस्तुओं से मिलकर बना है। एक आत्मा तथा दूसरा शरीर। एक चेतन दूसरा जड़, एक पुरुष दूसरा प्रकृति। इस प्रकार हम एक नहीं दो हैं, एक 'मैं' (आत्मा) तथा दूसरा 'मेरा' (शरीर) अर्थात् एक हमारा शरीर और दूसरा वह जो कहता है कि यह शरीर मेरा है। एक को 'मैं' करके जाना जाता है तथा दूसरे को 'मेरा' कह करके जाना जाता है। जो जानता है वह अलग है और जिसे जानना है वह अलग है। शरीर अपने को नहीं जानता कि 'मैं शरीर हूँ' और जो यह जानता है कि यह मेरा शरीर है वह अलग है। एक अध्यात्मवादी कहता है कि शरीर है ही नहीं, आत्मा ही है, या मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ, तथा दूसरा भौतिकवादी कहता है कि शरीर ही है, आत्मा है ही नहीं, अर्थात् मैं शरीर ही हूँ आत्मा नहीं।

मैं शरीर या आत्मा

सभी मनुष्य अपने को 'मैं' कहते हैं? या 'मैं' करके जानते हैं, लेकिन वस्तुतः यह 'मैं' कौन है? क्या है? यह नहीं जानते। अपने को 'मैं' कहने वाला शरीर है या आत्मा। आत्मा रूपी चैतन्य यदि शरीर में न हो तो वह 'मैं' कह नहीं सकेगा। इसलिए मैं का अर्थ है आत्मा। परन्तु बहुसंख्यक लोग इस आत्मा को 'मैं' को जानते तक नहीं, जानना तो अलग रहा मानते भी नहीं। वे देह को ही आत्मा मानते हैं। इस शरीर में शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों के विषय श्रेष्ठ हैं, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से महान आत्मा श्रेष्ठ है। इस प्रकार शरीर को मैं मानने वाला ही श्रेष्ठ, शक्तिमान, तथा महान पुरुष है जो मनुष्य शरीर को 'मैं' मानता है, वह विचार करे कि शरीर हमें कहाँ ले जा रहा है? संसार की ओर क्योंकि शरीर संसार का अंश है। शरीर हमें प्रकृति और मृत्यु की ओर ले जा रहा है। जिन्होंने अपने आपको 'मैं' आत्मा हूँ माना है, तो उनकी आत्मा उन्हें परमात्मा की ओर ले जायेगी। क्योंकि आत्मा परमात्मा का अंश है। आत्मा परमात्मा का अंश होने के नाते चैतन्य अजर अमर तथा अविनाशी है। इसके विपरीत शरीर जड़ है, विनाशी है। मृत्यु और अमृत दोनों ही इस शरीर में स्थित हैं। जन्म-मरण, बाल युवा तथा वृद्ध यह सब शरीर की ही अवस्था हैं। वह जो शरीरी है जिसे आत्मा कहते हैं जो शरीर नहीं है वही जीवन है उसे जो नहीं जानता वह जीवनमें भी मृत्यु में है। तुमने अपने आपको शरीर माना है इसलिए शरीर की अवस्था व गति को अपनी अवस्था व गति मानते हो। आत्मा की गति शरीर के कारण अवरुद्ध है। शरीर अवरोधक के हटते ही आत्मा हमको परमात्मा की ओर ले जायेगी अमरत्व की ओर ले जायेगी, सत की ओर ले जायेगी। शरीर असत है, और संसार भी असत है इसलिए शरीर की गति असत संसार की ओर है। जो जिसका अंश है उस अंश की ओर स्वाभाविक गति है।

शरीर की यात्रा का अन्त पंचभूत में मिल कर हो जाता है, क्योंकि शरीर आया भी है

पंचभूत से ही। जिसका जहाँ से उद्गम है उसका अन्त भी वहीं है और आत्माकी यात्रा का अन्त परमात्मा में मिलकर हो जाता है, क्योंकि आत्मा परमात्मा से ही आई है। इस प्रकार जब तक 'मैं' आत्मा हूँ इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता, तब तक शरीर यात्रा अनेक शरीरों को लेकर चलती रहेगी; जन्म-मरण शरीर का चलता रहेगा। जब 'मैं' आत्मा हूँ ऐसा ज्ञान हो जाता है तो आत्मा परमात्मा में समाहित हो जाती है फिर शरीर धारण नहीं करना पड़ता। आत्मा की परमात्मा से अन्यत्र कोई गति नहीं है। शरीर की प्रकृति से आगे गति नहीं है। शरीर प्रकृति से पैदा होता है प्रकृति से ही उसका पोषण होता है और अन्तमें जीर्ण होकर प्रकृति में ही लयता को प्राप्त होता है।

शरीर से आत्मा भिन्न होते हुए भी हम आत्मा को नहीं जान पाते। शरीर जड़ और स्थूल है और आत्मा चेतन व सूक्ष्म है। आत्मा सूक्ष्म होने से हम उसे देख नहीं पाते। देह को अपना स्वरूप मानना और आत्मा को अपना स्वरूप न मानना ही अज्ञान है। प्राणीमात्र में यह मूढ़ता, अज्ञानता अनादि काल से चली आ रही है। शरीर की आड़ में आत्मा ढका हुआ है। प्राणी मात्र देह स्वरूप नहीं है आत्म स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। मनुष्य मात्र जड़ शरीर नहीं है। क्या आप चर्म, हाड़, मांसयुक्त जड़ शरीर हैं? नहीं ये आप नहीं हैं। अतः जो मैं नहीं हूँ उसको 'मैं' 'हूँ' मत मानो।

मनुष्य का शुद्ध 'मैं' 'अहम्' आत्मा है और विकारी मैं अशुद्ध 'शरीर' है। पानी अपने में शुद्ध है, लेकिन जब उसमें मिट्टी, चीनी या नमक मिल जाता है तो वह अशुद्ध हो जाता है। आत्मा शुद्ध 'मैं हूँ' इसके साथ शरीर मिल जाने से यह 'मैं' अशुद्ध हो गया है। अपनी आत्मा को न जानने से यह शरीर 'मैं' हो गया है। आत्मा न जानी जाय तो आत्मा देह और जगत है। इसीलिए ज्ञानी लोग कहते हैं कि आत्मा के अज्ञान से शरीर और संसार खड़ा हो गया है। आत्मा देह हो गई है और परमात्मा जगत हो गया है। अगर आत्मा को या जगत को ठीक से जान जाय तो फिर जगत परमात्मा और शरीर आत्मा हो जाता है—"तत्सर्व आत्मैवाभूत।" परमात्मा और संसार वैसे ही एक हैं, जैसे शरीर और आत्मा एक हैं। वे समूचे रूप में एक हैं; परन्तु साथ ही अपरिवर्तनीय रूप से परस्पर भिन्न भी हैं। परमात्मा और संसार तथा शरीर और आत्मा एक ही सत्य के दो छोर हैं। शरीर आत्मा का वह हिस्सा है जो इन्द्रियों की पकड़में आ जाता है और आत्मा शरीरका वह हिस्सा है जो इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता। शरीर का ही अदृश्य छोर आत्मा है और आत्माका ही दृश्य छोर शरीर है। अंश रूप में जो आत्मा है, अनन्त रूप में वही परमात्मा है। अंश रूप में जो पिण्ड है, विराट रूप में वही ब्रह्माण्ड है। (घमण्डी) 'मैं' ही अहङ्कार है, शरीर है, संसार है और विशुद्ध 'मैं' ही आत्मा है, परमात्मा है।

जीवन की दो वृत्तियाँ हैं, दो दिशाएँ हैं—एक है आत्म-दर्शन की तथा दूसरी शरीर-दर्शन की। एक परमात्म-दर्शन की तथा दूसरी संसार-दर्शन की। एक है आत्म-ज्ञान की तथा दूसरी है पदार्थ ज्ञानकी-शरीर-ज्ञान की। एक है आत्म-प्राप्ति की और दूसरी है पदार्थ-वस्तु प्राप्ति की। शरीरके प्रति ममत्व का त्याग, शरीर के प्रति जो जागृति है; शरीर के प्रति जो 'मैं पन' की भावना है उसका त्याग ही चैतन्य आत्मा के प्रति

जागना है। जब शरीर का ममत्व छूटता है तब चैतन्य जागृत होता है। जब तक शरीर का ममत्व जागता रहता है, तब तक चैतन्य सोया रहता है। चेतन आत्मा और जड़ शरीर की भिन्नता का ज्ञान योग-साधना का विषय है। आत्म-ध्यान करने से चेतन (आत्मा) और जड़ शरीर की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। यह रहा शरीर और यह रही आत्मा। यह रहा जड़ शरीर और यह रहा चैतन्य। दूध-दही को बिलोने से एक बिन्दु आता है—यह रही छाछ और यह रहा मक्खन। आत्म-बोध, आत्म-विवेक होने पर शरीर और चैतन्य का पृथक्करण हो जाता है। इस शरीर में सबसे मूल्यवान और शक्तिशाली तथ्य है आत्म-चेतन। जिस व्यक्ति ने इस नश्वर शरीर के भीतर रहने वाले चेतन परमात्मा के अंशरूप आत्मा को पहचानने लिए प्रयत्न नहीं किया, उसका सभी प्रयत्न निष्फल है। जिसने शरीर मंथन कर जीवन का सार तत्व आत्मा को नहीं निकाला उसने शरीर का मूल्याङ्कन भी नहीं किया।

जीवन के दो पहलू हैं। उसका एक पहलू दृश्य शरीर है तथा दूसरा पहलू अदृश्य आत्मा है। अब चुनाव करने की बात आती है कि कौनसा जीवन जीया जाय; आत्मिक जीवन या शरीर का जीवन जीया जाय। शरीर की माँग सुख है और आत्मा की माँग आनन्द है। शरीर संसार का अंग है और आत्मा परमात्मा का अंश है। अंश अंशी से मिलाना चाहता है, तभी तो शरीर संसार की ओर दौड़ता है और आत्मा परमात्मा को पाना चाहती है। परमात्मा की आत्मा है और संसार का शरीर है। अमृत और मृत्यु ये दोनों इसी शरीर में विद्यमान हैं। सजीव और निर्जीव देह के भेद को थोड़ा समझ लें। सजीव देह में जड़ देह और चैतन्य आत्मा दो वस्तुएँ रहती हैं, जबकि मृत देह में मात्र जड़ देह होती है। मृत देह में चैतन्य आत्मा निकल जाता, सजीव देह में वह उसी में रह कर उसे चैतन्य रखता है। शरीर मोह से मृत्यु होती है और आत्म-प्रेम से अमरता मिलती है। अतः मृत्यु से (शरीर), अमृत्व से (आत्मा) की ओर की यात्रा ही जीवन है। असत् से सत् की चलना ही जीवन है।

जब कोई योगी-महात्मा आत्माके विषय में कुछ कहते हैं तो हम सोचते हैं कि क्या यह सत्य है? क्या आत्मा नाम की कोई चीज सचमुच है? आत्मा तथा परमात्मा के विषय की चर्चा सुनकर अथवा पढ़कर भी हमें अपनी सत्ता पर अपने अस्तित्व पर आत्मा पर विश्वास नहीं होता है। यह विश्वास होता ही नहीं कि वह परमात्मा विराट आत्मा के रूपमें हमारे अन्दर निवास करता है। आत्मा की सत्ता पर विश्वास करना इसलिए कठिन होता है कि वह इन्द्रिय मन तथा बुद्धि के परे का विषय है। लेकिन फिर भी वह है आत्म-शक्ति के रूप में।

हमारे लिए अपनी ही अन्तरात्मा को जानना इतना कठिन क्यों है? हमें उसके अस्तित्व पर विश्वास क्यों नहीं होता? परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है; तो हमें उसका सतत अनुभव क्यों नहीं होता? इसका कारण है कि परमात्मा ने हमारी इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए बाहर का हम देखते हैं, सुनते हैं। जब हम योग-साधना के द्वारा मन को एकाग्र करके अन्तर्मुख होते हैं, आत्म-ध्यान, आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन करते हैं तो हमें आत्मानुभूति होती है। अन्तरात्मा के दर्शन में शरीर आवरण है और परमात्मा के दर्शन में संसार आवरण है। इन दोनों

आवरणों की सिद्धि योगिराज गुरुदेव ही भंग करने में समर्थ हैं। गुरुदेव के ज्ञान के प्रकाश से आवरण के भंग होते ही आत्मा और परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

प्रथम तो हमको अपने गुरुदेव के वचनों पर तथा शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए। इसलिए संदेह रहित शंका रहित उनकी बात को सत्य मानकर उस पर विश्वास कर लेना चाहिए। आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप श्रद्धामय है। मानो तो देव नहीं तो पत्थर है। सारा जगत का व्यवहार विश्वास पर ही कायम है। विश्वास की सत्तासे ही सारे जगतके व्यवहार चल रहे हैं। संसार पर जिनका भरोसा है, विश्वास है उसका व्यवहार संसारमें चल रहा है। लेकिन जिसका भरोसा आत्मा तथा परमात्मा पर है उनका व्यवहार आत्मा तथा परमात्मासे है। जो चीज हमको सत्य प्रतीत होती है हमारा विश्वास उसी में कायम हो जाता है। संसार और शरीर हमें सत्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि वह हमारे सामने प्रत्यक्ष है, लेकिन आत्मा और परमात्मा हमें असत्य प्रतीत होते हैं। क्योंकि वह अदृश्य हैं इसलिए उनकी सत्यता पर हमें विश्वास नहीं होता। आत्मा परमात्मा की सत्ता अनुभव से सिद्ध होती है। जो सत्य है उसके प्रति आस्था का होना ही श्रद्धा है। श्रद्धा सात्विक वृत्ति है, श्रद्धा के होने पर ही हमें विश्वास होता है। अपनी आत्मापर विश्वास करके आत्म-विश्वास को जगाओ, आत्म-निष्ठ बनो।

आत्म-विश्वास का मतलब है कि तुम अपनेको शरीर नहीं आत्मा समझो। अपनी आत्मा पर विश्वास करना कि मेरे अन्दर आत्मा है, इसी को आत्म-विश्वास कहते हैं। आत्म-विश्वास से बढ़कर मनुष्य का कोई मित्र नहीं है। यदि तुम उस आत्मा से नहीं मिलो, जिसके बिना तुम्हारा शरीर शव हो जाता है, जो तुम्हारे अन्दर प्रतिष्ठित है वही तुम्हारा जीवन है। यदि तुमने उसे नहीं जाना तो कुछ अन्य जानने योग्य नहीं है। यदि कुछ चिरंतन है तो आत्मा। शरीर में रहते हुए भी उस आत्मा को जानकर मुक्त हो जाओ। तुम्हें क्या पता यह शरीर कब साथ छोड़दे। शरीर के रहते-रहते इसमें निहित परमात्मा के अंश आत्मा को जानो। इसी को जान लेने के लिए इसे ही प्राप्त करनेके लिए ही मानव शरीर मिला है। यह सीधा सरल सत्य योग-सिद्ध गुरुदेव जब हमें बार-बार बताते हैं पर हम समझते हैं कि हम पर लागू नहीं होता। परमात्मा और आत्मा हमारी आवश्यकता का विषय नहीं है, हमको इनकी आवश्यकता भी क्या है। यह महात्माओं का विषय है। हम ऐसा मान लेते हैं कि जब परमात्मा को जानना होगा तब उसे जान लेंगे, अभी ऐसी उसे जानने की जल्दी भी क्या है?

अपने शरीर पर अधिक भरोसा मत करो, अपने जीवन पर अधिक भरोसा मत करो, अपने मन और इन्द्रियों पर अधिक भरोसा मत करो क्योंकि ये सदा एकसे नहीं बने रहेंगे इनकी शक्ति सामर्थ्य धीरे-धीरे क्षीण होती जायेगी। शरीर भी एक अवधि तक के लिए मिला है अवधि समाप्त होते ही शरीर नष्ट हो जायगा। इस शरीर के स्वस्थ रहते हुए वृद्धावस्था तथा मृत्यु के आने तक उस सत्य स्वरूप आत्मा को समझो; इसी मानव देह को जानने का अवसर मिला है। इस संसार और शरीर के निर्माता को समझो। शरीर और संसार हमको मिला है, मिली हुई वस्तु हमारी नहीं है। हमारा यथार्थ 'मैं' और मेरे

(● शेष पृष्ठ ३२ पर)

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्

कतिपय वरणीय सूक्तियां

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनम् ।।

अर्थात्

पण्डित को चाहिए कि मन को हरने वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के रोकने में ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ों के रोकने में सारथी करता है ।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।।

अर्थात्

पहले मनीषियों ने जो ग्यारह इन्द्रियाँ कही हैं, उनको ठीक-ठीक क्रम से भली-भाँति कहता हूँ ।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ।।

अर्थात्

कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जीभ, पाँचवीं नाक, गुदा, लिंग, हाथ, पैर और दसवीं वाणी—ये दस इन्द्रियाँ कही गई हैं ।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।

अर्थात्

इनमें पहली कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पिछली गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, ऐसा कहा जाता है ।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।।

अर्थात्

मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय जानना चाहिए; यह अपने गुण से कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का ही आत्म-स्वरूप है । इसको जीत लेने से उपर्युक्त दसों इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।।

अर्थात्

मनुष्य इन्द्रियों के प्रसंग से निःसन्देह दोष को प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयम से सिद्धि पाता है।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।।

अर्थात्

जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय मानना चाहिए।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ।।

अर्थात्

सब इन्द्रियों से जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है तो उससे इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे चर्मपात्र (मशक) में से जल निकल जाता है।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ।।

अर्थात्

इन्द्रियसमूह को वशमें करके तथा मनको रोककर और योग (उपाय) से शरीर को पीड़ा न देकर मनुष्य को सब अर्थों का साधन करना चाहिए।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ।।

अर्थात्

जो जितेन्द्रिय और शुद्ध होकर एक वर्ष तक वेदको विधिपूर्वक पढ़ता है उसको यह दूध, दही और शहद नित्य देता है।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ।।

अर्थात्

विद्या ने किसी ब्राह्मण से आकर कहा कि मैं तेरा खजाना हूँ, मेरी रक्षा कर, मुझे निन्दा करने वाले को मत दे, इससे ही मैं वीर्यवती होऊँगी।

—मनुस्मृति

● श्री द्वारका प्रसाद शर्मा

जीवन में योग की उपादेयता

हमारे मनीषी-विचारकों, सन्तों, महात्माओं तथा धर्मग्रन्थों ने मनुष्य जीवन की दुर्लभता के विषय में बारम्बार हमें स्मरण कराया है। उसका कारण सर्वविदित है कि अन्य जितनी भी योनियाँ हैं, चाहे वह देव-योनि ही क्यों न हो, वे सभी भोगयोनि की कोटि में आती हैं। मात्र मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जिसे प्राप्त कर मनुष्य अपने उद्यम व प्रयत्न के बल पर अपनी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य योनि में भी पूर्व जन्मों में किये गये कर्म-संस्कारों को भोगना पड़ता ही है; परन्तु यह भी तथ्य निर्विवाद है कि मनुष्य के साथ इस बन्धन के होते हुए भी वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग को स्वयं प्रशस्त करने की ओर प्रयास करने के लिए स्वतन्त्र है। यह शास्त्र-सम्मत सत्य है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त भाग्यसे प्राप्त होता है तथा इस मनुष्य जीवन को प्राप्त करने पर जो इसका सदुपयोग, सांसारिक प्रपञ्चों में न पड़कर, आत्मोन्नति के प्रशस्त मार्ग की ओर अग्रसर होने हेतु करने लग जाता है, वही पुरुष धन्य है तथा उसका मनुष्य जीवन धारण करनाभी सार्थक एवं सफल हो जाता है। श्रीमद्भागवत में मनुष्य जीवन के विषय में निम्नलिखित श्लोक कितना प्रासङ्गिक एवं समीचीन है—

नृदेहमाद्यं परमं सुदुर्लभं,
पुन: पवित्रे च कुलेऽपि जन्म।
लब्ध्वा गुरुं कर्णधारं च तत्र,
पुमान् भवाब्धि न तरेत स आत्मेहा॥

इसका अर्थ यह है कि पहले तो नरदेह की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ होती है। उसके पश्चात् पवित्र कुल में जन्म प्राप्त होना भी उतना ही दुर्लभ संयोग होता है। और फिर एक कर्णधार के सदृश यदि गुरु प्राप्त हो जाय, इस पर भी जो मनुष्य इस भवसागर को न तरे या पार न कर पाये तो उस मनुष्य को आत्महन्ता (आत्म-हत्यारा) ही कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए कौन-सा मार्ग

(● पृष्ठ २९ का शेष)

का सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा के साथ है। मैं परमात्मा का अंश आत्मा हूँ और परमात्मा मेरा है, क्योंकि हम 'मैं' और परमात्मा एक ही हैं। सजातीय हैं, परंतु हमने परमात्मा से आत्मा से विमुख होकर अपनेको शरीर मान कर संसारसे सम्बन्ध मान लिया है इसीलिए सांसारिक वस्तुओं को मेरा कहते हैं, परंतु शरीर और संसार मेरे नहीं हैं, क्योंकि शरीर और संसार ने हमसे सम्बन्ध नहीं माना है। शरीर और संसार को अपना मानतेही मनुष्य फंस जाता है। अत: जो अपना नहीं है, उसे अपना नहीं मानना और जो अपना है उसको अपना मानना ही यथार्थ ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञानी है।

अत्यन्त उपादेय तथा आत्मोत्कर्ष के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यह तो सार्वभौम रूप से शाश्वत सत्य है कि मनुष्य जीवन का चरमलक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अर्थात् आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्ति। हमारे धर्मशास्त्रों में इसी लक्ष्य की प्राप्तिके निमित्त पथप्रदर्शन किया गया है तथा अनेक मार्गों के माध्यम से इसी गन्तव्य लक्ष्य की ओर अग्रसर होने तथा प्राप्ति के साधन रूप विभिन्न पथों के अवलम्ब के आदेश धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। हमारे मनीषियों ने भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के सिद्धान्त के अनुसार अनेक प्रकार के मार्गों का अन्वेषण कर हमें दिशा निर्देश दिये हैं। जैसे जिस किसी भी पन्थ में जिस किसी भी व्यक्ति विशेष की रुचि हो, वह उसे अपनाकर अपने अभीष्ट गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है।

तात्त्विक एवं शाब्दिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो 'योग' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। योग का अर्थ है जोड़ना। आध्यात्मिक अर्थ में इसका अर्थ आत्मा को परमात्मा से जोड़ना है। इस आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण, निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान के माध्यम से किया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रथम छः अध्यायों में निष्काम कर्मयोग, द्वितीय छः अध्यायों में भक्तियोग तथा तृतीय छः अध्यायों में ज्ञानयोग के द्वारा इसका प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि यह भी निर्विवाद है कि निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान, ये तीनों एक-दूसरेसे सम्पृक्त हैं अर्थात् अन्योन्याश्रित ही हैं, एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। यदि भक्ति है तो ज्ञान का उदय अवश्यम्भावी है। यदि निष्काम कर्मयोग में सिद्धता प्राप्त है तो अवश्य ही उस मनुष्य में ज्ञानोदय तथा भक्ति का सम्पुट निश्चित रूप से विद्यमान होगा। तो इस प्रकार निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के द्वारा विविध रूपों का दिग्दर्शन योग-योगेश्वर अखिलात्मा श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कराया है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं तथापि हमें इनमें से भी एक प्रशस्ततम् तथा उत्कृष्ट पथ का अवलम्बन लेकर अपने जीवन को सार्थक एवं सबल बनाना है। मनुष्य मात्र की रुचि वैचित्र्य के अनुसार ही उनमें से किसी योग-विशेष का समाश्रय व्यक्ति विशेष के लिए लाभकर होगा। यह आप्तकाम सिद्धगुरु ही निर्धारित कर सकते हैं तथा उनके द्वारा प्रदत्त दीक्षा का क्रम व्यक्ति विशेष के उत्थान के लिए एक सुन्दर सोपान का कार्य करता है। किसी व्यक्तिके लिए निष्काम कर्म करना ही सिद्धदाता होगा। किस व्यक्ति के लिए इष्टदेव की आराधना एवं भक्ति ही सकल सिद्धि-प्रदायिनी होगी तो किस व्यक्ति विशेष के लिए ज्ञान का अवलम्बन लेकर मोक्ष-मार्ग सुकर होगा। अखिलात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुखारविन्द से एक स्थान पर 'गीता' में संकेत किया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति,
केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन,
कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः,
श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव,
मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३/२४-२५)

उक्त श्लोकों में इसी तथ्य का उद्‌घाटन किया गया है।

वास्तव में देखा जाय तो योग का विषय अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। यह अनुभूतिपरक विषय है, इसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता है। स्थान-स्थान पर योगकी उपादेयता के विषय में योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्दु से यथा प्रसंग इसका वर्णन किया है। योग शब्द स्वतः ही व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। भगवान पतंजलि ने जहाँ योग की व्याख्या करते हुए "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" इस सूत्र की रचना की है, वहीं गीता में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से 'न ह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन' कहकर मनुष्य मात्र का ध्यान आकृष्ट किया है।

स्थान-स्थान पर 'योग' शब्द का प्रयोग भगवद्‌गीता में हुआ है। कितना सुन्दर समन्वय भगवान श्रीकृष्ण ने किया है। सभी मार्गावलम्बियों के लिए क्या ही सुन्दर कथन है—

नैव किंचित्करोमीति,
युक्तो मन्येत तत्त्ववित।
पश्यंश्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्न-
श्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन् ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नु-
न्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु,
वर्तन्त इति धारयन् ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि,
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन,
पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कायेन मनसा बुद्धया,
केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति,
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
(गीता ५/८-९-१०-११)

इसका भाव यह है कि एक तत्वज्ञानी तथा युक्त पुरुष को यह मानकर चलना है कि मैं तो कुछ नहीं करता हूँ। मेरे देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, सांस लेते हुए, बोलते हुए, त्यागते हुए, ग्रहण करते हुए, पलक उठाते हुए तथा गिराते हुए, इन क्रिया-कलापों में भी मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ—अलग-अलग जो इन्द्रियाँ हैं, वे अलग-अलग विषयों में मात्र व्यवहार कर रही हैं। समस्त कर्मों व क्रियाओं को ब्रह्म में समर्पित कर निःसंग होकर जो कार्य करता है, वह पाप से उसी प्रकार अलिप्त रहा करता है, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है। इससे आगे श्रीमुख से भगवान कह रहे हैं—शरीर से, मन से, बुद्धि से तथा इन्द्रियोंसे भी योगीजन निःसंग होकर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते रहते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि एक युक्त योगी तत्व-वेत्ता हुआ करता है। वह ज्ञान-योग की उस स्थिति तक पहुँचा हुआ होता है जिसमें उसे यह आभास ही नहीं होता है कि वह स्वयं कर्ता-धर्ता है। ठीक है इन्द्रियाँ अपने विषयों में स्वतः व्यवहार कर रही हैं। वह तो निःसंग भाव से सभी कर्मों को ब्रह्मार्पण करता हुआ लोक-व्यवहार कर रहा है, इससे

अधिक कुछ नहीं। वह जो कुछ भी करता है, चाहे वह ईश्वर की आराधना करता है अथवा किसी कर्म में प्रवृत्त होता है; वह सब एक साक्षीभाव से ही किया करता है। उसमें वह अपनेको अहंभावेन निमित्त नहीं माना करता, वह अहंभाव से पृथक् हो जाया करता है।

अब हमें सारभाव में यह देखना है कि चूंकि सभी मार्ग एक-दूसरे से सम्पृक्त हैं ही, परन्तु पुनरपि जो 'सिद्धयोग' का मार्ग है वह किसी सिद्धयोगी के तथा सामर्थ्यवान एवं आप्तकाम महापुरुषके द्वारा, शरणापन्न होकर अत्यन्त पुण्य से प्राप्त होता है। जिसमें वे अपने साधक शिष्य के कल्याणार्थ उसके संस्कारों के अनुकूल उसे उसी योग-पथ पर आरूढ़ कर देते हैं।

हमारे परमाराध्य प्रातः स्मरणीय एवं प्रतिक्षण-दर्शनीय सिद्धोंको भी अभीष्ट सिद्धि प्रदाता, योगेश्वर सद्गुरुदेव द्वारा हमें जिस पथ पर आरूढ़ कर दिया गया है, वह सर्वश्रेष्ठ योग-मार्ग है; जिसके लिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं अपने श्रीमुख से हमें संकेत किया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।
(गीता ७/४६)

अर्थ स्पष्ट ही है कि एक योगी तपस्वियों, ज्ञानियोंसे तथा कर्मियोंसे अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण एवं आचरणीय बिन्दु यह है कि हमें प्रभुजी ने जिस किसी भी विधि से जो कुछ भी करते रहने के आदेश प्रदान किये हैं उनका पालन हम जितने अंश तक करने में सक्षम व सफल होंगे, उतने-उतने अंशों में हम आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ेंगे तथा श्रेयके भाजन बनेंगे। इस मार्ग में गुरु-कृपा के साथ-साथ साधक का गुरुदेव के चरणों में अनुराग तथा श्रद्धातिशयता एक महान उपलब्धि है। भगवान पतंजलि तथा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुखोच्चरित सुधासिक्त वचनोंमें कितना साम्य है, जरा देखें—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।
(योग-दर्शन)

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च,
संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो,
न सुखं संशयात्मनः॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं,
तत्परः संयतेन्द्रियः।
(भगवद्गीता)

इसके अतिरिक्त श्रद्धा एवं विश्वास इस कोटि का होना चाहिए—

मन्नाथस्त्रिजगन्नाथः, मद्गुरुस्त्रिजगद्गुरुः

कहने का अभिप्राय मात्र यही है कि इस 'सिद्धयोग' के साधक एवं सिद्ध-पथिकों का इस लोक में तो जीवन निरापद, निर्भय तथा कृत-कृत्य होगा ही, परलोक में भी मनुष्य-देह की प्राप्ति की अवस्था में पूर्व जन्मोदात्त सुन्दर संस्कारमय जीवन का श्रीगणेश ही होगा।

—●—

श्लोकत्रयम्

(१)

त्वदीय पादाम्बुज सेवनाय, त्वदीय यशसां परिकीर्तनाय ।
त्वदीय लीला: परिदर्शनाय, करौ, गिरा मे नयने सदा स्तुः ।।

भावार्थ—तुम्हारे चरण-कमलों की सेवा के लिए, तुम्हारी कीर्तियों को बखानने के लिए, तुम्हारी लीलाओं को देखने के लिए, हे सद्गुरुदेव ! मेरे दोनों हाथ, मेरी वाणी तथा मेरे दोनों नयन सदा तत्पर रहें।

(२)

त्वदीय धामानि निषेवणाय, त्वदीय चिन्त्यं परिपूरणाय ।
त्वदीय कार्यं परिवर्द्धनाय, पादौ, मनोबोधश्च सदैव मे स्तुः ।।

भावार्थ—तुम्हारे धामों को (जहाँ-जहाँ प्रभुजी के चरणारविन्द पहुंचे है, उन धामों से तात्पर्य है) जाने के लिए, तुम्हारे चिन्त्य (सोचे गये विषय) को पूर्ण करने के लिए, तुम्हारे कार्य (किये जाने वाले क्रिया विशेष) को बढ़ाने के लिए, हे सद्गुरु देवजी ! मेरे दोनों पैर, मेरा मन तथा मेरी बुद्धि सदैव तत्पर हों ।

(३)

त्वदीय चरितानि परिश्रवाय, त्वदीय पादौ परिवन्दनाय ।
त्वदीय कीर्त्तेर्मधुमाघ्रणाय, कर्णौ शिरो नासिका मे सदा स्तुः ।।

भावार्थ—तुम्हारे चरित्रों को सुनने के लिए, तुम्हारे चरणों को वन्दन करने के लिए, तुम्हारी कीर्तिरूपी मधु (पराग) को सूँघने के लिए हे सद्गुरुदेव ! मेरे दोनों कान, मेरा सिर तथा मेरी नाक सदा तत्पर रहें ।

—श्री द्वारकाप्रसाद शर्मा
लखनऊ

'श्लोकत्रयम्' शीर्षक यह सुन्दरतम् रचना तथा इसी अङ्क में इससे पूर्व के पृष्ठों में प्रकाशित 'जीवन में योग की उपादेयता' शीर्षक लेख, विद्वान लेखक बन्धु ने पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी की सेवा में गत अप्रैल मास में प्रेषित किया था किन्तु इसका प्रकाशन अब से पूर्व श्री गुरुदेवजी के जीवनकाल में करपाने का सुयोग हम नपा सके । क्योंकि लेख और रचना दोनों ही हमें एक सप्ताह पूर्व ही मिल पायी हैं । विलम्ब से प्रकाशन की अप्रत्याशित व्यवस्था के लिए हमें खेद है ।

लेखक बन्धु की श्रद्धांजलि रूपमें हमें एक और रचना भी हाल ही में प्राप्त हुई है जिसे पाठक 'सिद्धयोग' के आगामी अङ्क में पढ़ने का लाभ ले सकेंगे ।—सम्पादक

श्री मेहेर बाबा

मृत्यु क्या और क्यों ?

[मृत्यु जीवन में एक आघात के रूप में आती है, ऐसा प्रायः सर्वसाधारण की धारणा बनी हुई है, किन्तु पढ़िए प्रस्तुत लेख में प्रसिद्ध सिद्धयोगी श्री मेहेर बाबा के विचार, जिनका मानना है कि मृत्यु मनुष्य को नवजीवन में एक अवसर देने के लिए आती है और आती है इसलिए कि वह उसके वर्तमान बोझिल जीवन से उसे मुक्त बनाकर नये जीवन पथ पर अग्रसर कर दे। —सम्पादक]

मृत व्यक्ति के मित्र एवं सम्बन्धी बहुधा उसकी मृत्यु से अत्यन्त विचलित हो उठते हैं, क्योंकि शरीर का क्षय उन्हें स्वयं जीवन का ही अन्त जान पड़ता है। उनके सारे लगाव शरीर से सम्बन्धित रहे थे। उस शरीर के कारण ही उनका सम्पर्क आत्मा के साथ बना हुआ था, और उस शरीर के द्वारा ही उनकी अनेक शारीरिक तथा भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही थी। इसलिये वे उस शरीर के लोप को, जो आत्माके माध्यम का कार्य करता था, प्रायः स्वयं व्यक्ति का विनाश मानने लगते हैं।

विशुद्ध भौतिक दृष्टि से, मृत्यु से शरीर तक का नाश नहीं होता, परन्तु शरीर-विज्ञान की दृष्टि से वह आत्मा के आगे के निवास के लिए अनुपयुक्त हो चुका है और इसलिये अपना सारा महत्व खो चुका है को इसलिए मृत्यु सताती है उसे नया शरीर देने।

मन के रूप में व्यक्ति विशेष की आत्मा के दृष्टिकोण से मृत्यु से किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती, क्योंकि मन और उसके सब संस्कार वैसे के वैसे बने रहते हैं। इस प्रकार वास्तव में व्यक्ति किसी भी रूप से पृथक् नहीं है। उसने केवल अपना बाहरी आवरण उतार दिया है। फिर भी उस भौतिक शरीर-विच्छेद से दो महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। यह व्यक्ति को एक नये प्रकार के जीवन में प्रविष्ट कराने का एक साधन होता है और यह स्वयं एक अति महत्वपूर्ण घटना भी होती है क्योंकि इसके गौण प्रभाव सर्वाधिक व्यावहारिक महत्व के होते हैं।

× × ×

जब अन्य लोग मरते हैं, तो व्यक्ति एक या अधिक से अधिक थोड़े से मित्रों को खो बैठता है जिन्होंने उसके संसारी जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की होती है। परन्तु जब वह (स्वयं) मर जाता है तो एक ही झटके में उसका उन सब लोगों से नाता टूट जाता है जो उसके निजी जीवन में घुलमिल गये थे। वह अपनी तमाम धन-सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठता है और उन उपलब्धियों से विलग कर दिया जाता है जिन्हें उसने जीवन में सफलता सम्बन्धी धारणा का आधार ही बना लिया था।

और, सबसे बड़ी बात यह है कि उसे वह भौतिक शरीर तक पीछे छोड़ जाना होगा जिसके साथ वह इतना अधिक हिलमिल गया था कि वह स्वयं को भौतिक शरीर के

अतिरिक्त और कुछ मानने के लिए कदाचित् ही तैयार था। इसलिए उस व्यक्तिके संसारी जीवन के समूचे ढाँचे का वह पूर्ण विनाश उसके जीवनकाल में अपूर्व सङ्कटकाल होता है।

मृत्यु होने पर इस सङ्कटपूर्ण मोड़ से लाभ-हानि दोनों होती हैं। सबसे बड़ी हानि तो इस बात में होती है कि उस व्यक्ति को अपने संसारी जीवन के सभी काम-धन्धे अधूरे छोड़ने पड़ते हैं, उसे शतरंज की पूरी बिसात, उसमें और आगे रुचि के लिये बिना, छोड़कर जाना होता है। उसके जीवन का दृश्य मिट जाता है और उसकी संसारी गतिविधियों की कड़ी टुकड़े-टुकड़े हो जाती है।

वास्तविक उपलब्धि के दृष्टिकोण से, उसके उद्योग-धन्धे के चालू रहने में अकस्मात् बाधा पड़ गई है। अपने पीछे छोड़ी योजनाओं को आगे बढ़ाना उसके पूर्व सहकारियों का काम है—और अब उनसे उसका कोई सरोकार नहीं रह गया। उस व्यक्ति के लिए यह दुर्लभ है कि एक सांस्कारिक सम्बन्ध द्वारा वह उसी प्रकार के काम-काज की ओर आकर्षित हो जो उसने पिछले जन्म में शुरू किया था एवं उसे वहाँ से आगे बढ़ाये जहाँ उसके उत्तराधिकारियों ने उसे छोड़ा था।

× × ×

यह सोचना गलत होगा कि मृत्यु हानि के सिवा और कुछ नहीं करती। मृत्यु उन सभी संस्कारों को नष्ट-भ्रष्ट कर, जिनका पोषण संसारी पदार्थों द्वारा होता था, आसक्तियों को सामान्यतः क्षीण भी करती है, क्योंकि मन को अब उन आसक्तियों से हटा दिया गया है। जबकि यह सच है कि संसारी जीवन में व्यक्ति द्वारा की गई अनेक साधनाओं का फल पिछले संस्कारों को शिथिल करना होता है, फिर भी केवल बहुत बिरले ही उदाहरण मिलेंगे जब वह इन संस्कारों के वर्तमान तथा भावी प्रभावों को पूर्णरूप से मिटाने में सफल होता है। कुछ सुनिश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही मृत्यु के समय घटित होने वाले व्यक्ति के अकस्मात् स्थानान्तरण द्वारा संस्कारों का यह विनाश सम्पन्न होता है।

अकेली एक मृत्यु में निहित शिक्षायें यदि व्यक्ति द्वारा पूर्ण रूप से ग्रहण कर ली जायें तो उसे कई जन्मों की प्रशान्त-आध्यात्मिक साधना के बराबर लाभ होगा। दुर्भाग्यवश अधिकांश अवस्थाओं में ऐसा नहीं होता, क्योंकि मृत्यु के बाद प्रत्येक व्यक्ति प्रायः अपने संचित संस्कारों को पुनर्जीवित करने का यत्न करता है। पुनर्जीवित हुए इन संस्कारों के द्वारा वह उन्हीं अनुभूतियों का एक बार फिर अनुभव करता है जिसमें से वह पहले गुजर चुका है, इसलिए मृत्यु के तत्काल बाद की अवधि पूर्व अनुभूतियों से प्राप्त ज्ञान द्वारा मोक्ष की अवधि बनने की बजाय, प्रायः पहले वाले अनुभवों को दुहराने मात्र का अवसर बन जाती है।

इन त्रुटियों के बावजूद मृत्यु संस्कारों के वृक्ष—मूल, तना तथा शाखा—को निश्चय ही एक जोरदार झटका देती है, और वह मन को बाह्य जगत के प्रति अपनी विचारधारामें संशोधन करने के लिए प्रेरित करती है। मृत्यु रूप की आकर्षक दुनिया से कुछ अंश में मुक्त होने में भी सहायक होती है। जीवन के प्रति अपनी विचारधारा में कुछ संशोधन किए बिना व्यक्ति धरती पर कभी वापस नहीं आता।

इस प्रकार धरती पर पिछले जीवन से उसका प्रायः गहरा साम्य रहता है। किन्तु वह पूर्व जीवन की हू-बहू नकल नहीं होता। वह एक नया ही प्रयोग होता है। (क्रमशः)

भारतीय संत एवं सिद्ध-योगियों की संगत में—

पालब्रण्टन

● डॉ० विजयसिंह

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक पाश्चात्य ब्रिटिश पत्रकार पालब्रन्टन भारत आया था। वैसे उस समय देश पर अंग्रेजों का ही अधिपत्य था, परन्तु स्वतन्त्रता की ज्वाला क्रांतिकारियों ने देश के कोने-कोनेमें भड़का दिया। यह अंग्रेज कई वर्ष तक भारत का भ्रमण सुदूर दक्षिण से लेकर उत्तर तक करता रहा। यह शासक वर्गीय अंग्रेजों से सर्वथा भिन्न था। भारत में आगमन का उद्देश्य इस व्यक्ति का अत्यन्त पवित्र था। भारत के आर्ष आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने की उत्कट पिपासा इसके मन में थी। जहाँ कहीं भी पालब्रन्टन को किसी योगी, संत, फकीर मलंग का पता लगा वह वहाँ-वहाँ गया। पत्रकारों की सूझ-बूझ पाश्चात्य परिवेश में सहज उत्पन्न शङ्काओं का भूत सदैव उसके साथ रहा। भारत के भ्रमण में उसने उस काल के तमाम सुविख्यात व अनाम योगियों के सत्संग का लाभ उठाया। अन्ततोगत्वा महर्षि रमण से ज्ञान-दीक्षा प्राप्त कर आत्मकामी बनकर पश्चिम अपने देश लौटा। उस समय भौतिकवाद के प्रभाव से तथा तात्कालिक विश्व-युद्ध की विभीषिका में पूरा यूरोप ही क्यों विश्व ही सम्पूर्णतया जल रहा था। पालब्रंटनने "Search of secrete India" (गुप्त भारत की खोज) नामक पुस्तक में भारतीय संतों से हुए समागम का अद्भुत शब्द-चित्रण किया है। उसका यह काम पाश्चात्य मनीषियों के मन में गुलाम भारत का दूसरा ही रूप उजागर करने वाला सिद्ध हुआ। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ द्वारा विदेशों में आत्म जागरण का जो कार्य हो चुका था उसी शृङ्खला की यह भी एक कड़ी बन गया।

अस्तु, इस लेखमाला में सार-संक्षेप में ही "सिद्धयोग" की साधना में लगे सुधी-पाठकों के लिए संत समागम का शब्द चित्रण पालब्रंटन रचित पुस्तक के हिन्दी अनुवाद "गुप्त भारत की खोज" से दे रहा हूँ।

योगी ब्रह्म से भेंट—

मद्रास में पालब्रंटन की एक दिन अकस्मात् एक युवक योग-साधक से भेंट हुई, जिनका नाम ब्रह्म सुखानन्द था। इनके गुरुदेव दीर्घजीवी चार-पाँच सौ वर्ष की उम्रके महासिद्ध थे। जिनकी अलौकिक कृपा से ब्रह्म सुखानंद को योगोपलब्धि हुई थी। सुखानन्द को बचपन से ही योग के प्रति प्रगाढ़ अभिरुचि थी। बारह वर्ष की अवस्था में इन्हें कुछ योग सम्बन्धी पुस्तकें मिलीं, जिसे पढ़कर गुप्त रूप से प्राणायाम का अभ्यास करने लगे। निश्चित ही उन्हें यह विदित नहीं था कि इन अभ्यासों को बिना सिद्ध सद्गुरु की आज्ञा के तो करना भी नहीं चाहिए, अति

उत्साहमें ऐसा करने का परिणाम बुरा हुआ। इनके कपाल के मध्य में कुछ चोट सी मालूम होने लगी और रक्त बह निकला, शरीर ठंढा और सुन्न हो गया। मृत्यु अति निकट जान पड़ने लगी। उस मरणासन्न मूर्छित अवस्था में एक दिव्य महात्मा प्रकट हुए और बोले—इन निषिद्ध अभ्यासों में हाथ डालकर देखो, तुमने अपना क्या हाल बना लिया है? परन्तु उनके अदृश्य होने के पश्चात से ही तबियत सुधरती गई और अन्त में वे चंगा हो गये।

अब वे प्राणायाम का अभ्यास बन्द कर सिद्ध-गुरु की खोज में लग गये, परन्तु जिन संत, मठाधीश के पास वे जाते, वे लोग विद्वतजन तो होते थे, परन्तु अनुभव शून्य होने के कारण सुखानन्द को सच्चे आचार्य नहीं लगे।

यौवनके द्वार पर पहुँचकर उन्होंने घर-बार त्याग कर सच्चे गुरु की खोजमें समय व्यतीत करने का सङ्कल्प कर लिया। घर त्याग कर भ्रमण करते हुए तंजौर जिले के एक बड़े गाँव में पहुंचे। प्रातः नदी में स्नान कर नदी के किनारे चलते हुए उन्हें एक लाल पत्थरों का मन्दिर दिखाई पड़ा। उत्सुकता के कारण झाँककर मन्दिर के भीतर देखा तो वहाँ कई सज्जनों को एक लँगोटी-धारी साधुके चरणों में बैठा देखकर आश्चर्य-चकित हुए। उन महात्मा के चेहरे पर अकथनीय गौरव-गंभीरता और रहस्यपूर्ण तेज दिखाई पड़ा। महात्मा सुखानन्द को अपने पास बुला करके बोले—बेटे! छः महीने हुए मुझे तुम्हें शिष्य के रूप में ले लेने का आदेश मिला था, अन्त में तुम आ ही गये। इस प्रकार ब्रह्म सुखानंद को सिद्ध सद्गुरु की प्राप्ति हुई। प्रथम साक्षात्कार में पालब्रंटन को ब्रह्म सुखानन्द ने यह आत्म-कथा बतलाई थी।

हठयोग क्या ?

पालब्रंटन ने ब्रह्म सुखानन्द से उनके साधनानुभूतिके बारेमें कुछ बताने हेतु आग्रह किया। इस पर उन्होंने कहा—हम हठयोग का अभ्यास करते हैं। सभी योगों में यह कठिनतम् है। इस योग में शरीर और श्वास जैसे अड़ियल घोड़ों को कठिनाई से काबू में लाना होता है। ऐसा करने से सहज ही मन पर अधिकार हो जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य, मनोबल और दीर्घायु हठयोग से प्राप्त होने वाला लाभ है। दुख, यन्त्रणा ऐसे योगियों का बाल-बांका भी नहीं कर सकते। जहाँ पानी बरफ बन जाता है, ऐसे हिमाच्छादित हिमालय में हमारे गुरुदेव बिना किसी वस्त्र के आराम से रहते हैं।

पालब्रंटनने ब्रह्मयोगी से हठयोग का स्वरूप और उद्देश्य तथा इतिहास जानना चाहा। ब्रह्म ने कहा—गोप्य ग्रन्थों में भगवान शिव को ही हठयोग का प्रथम आचार्य बताया गया है। उन्होंने महर्षि घेरण्ड को तथा महर्षि मत्स्येन्द्र आदि को हठयोग सिखाया। गुरु-शिष्य परम्परा से ही यह विद्या आज भी वर्तमान है। योग-विद्या सभी अन्य शास्त्र ज्ञानों से प्राचीन है। सिद्ध योगियों को छोड़ हठयोग को आम व्यक्ति नहीं जानता। पालब्रंटन ने कहा—इसमें साधारण व्यक्तियों का क्या दोष है? अच्छे योगी तो अपनेको प्रकट नहीं करते, अपने अमूल्य विज्ञान को छिपाये रहते हैं। ब्रह्म सुखानन्द व्यग्रतापूर्वक बोले—क्या राजा-रईस अपने जेवर रत्न-कोष सभों के देखने के लिए खुली सड़क पर छोड़ जाते हैं? क्या वे अपने अमूल्य रत्नों को तहखानों में बड़ी हिफाजत हिकमत से छिपाते नहीं हैं? हमारा योग-विज्ञान एक अप्राप्य दुर्लभ रत्न

है। इसके समान प्राप्य मनुष्य के लिए कुछ है भी नहीं। जिसको इसे पाने की लालसा हो, उसे प्राणों के मूल्य पर खोजना होता है। हाँ, इस विज्ञान के एक पहलू पर हम तुमसे साफ-साफ बात कर सकते हैं। साधना करने वाले जिसके द्वारा शरीर के अवयवों को मजबूत करते हैं और इससे सङ्कल्प-शक्ति का भी अभ्युत्थान होता है। सब कहीं लोग सच्चे योग के अभ्यास के योग्य बन सकते हैं।

ब्रह्मयोगी ने कहा-बैठने के हमारे तरीके सचमुच बड़े सुखदायी हैं। आसन से बैठनेपर सारे शरीर को सुख मिलता है। सुखानन्द ने अंग्रेज पत्रकार को पद्मासन, सुखासन लगा कर दिखलाया। और कहा—इस प्रकार बैठ कर अपने शरीर को अचल रखो। हाँ धीरे-धीरे सांस लो। आसन पर बैठकर अपने सारे विचार लोकसे खींचने का प्रयत्न करो। बेहतर हो किसी सुन्दर वस्तु, दिव्य प्रतिमाओं अथवा फूल पर केन्द्रित करो। अपनी रीढ़ को सीधा रखो। शान्ति और आसन से प्राप्त सुख योगाभ्यास का श्रीगणेश है। यह सारी दुनिया के लोगोंके लिए भी अत्यन्त लाभकारी है।

प्राणायाम का महत्व—

प्राणायाम सभीको सीखने की चीज नहीं है। परन्तु प्राणों का महत्व तो सभी को स्वीकारना होगा। हर मनुष्य के लिये दिन-रात में २१६०० सांसें प्रकृति ने निर्धारित कर रखी हैं। मनुष्य को रात और दिन में एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक इन सांसों को खींचना पड़ता है। जल्दी-जल्दी सांस लेने और हांफने से इनका अपव्यय होता है। नतीजा, मनुष्य की आयु कम हो जाती है। धीरे-धीरे गहरी सांस लेने से मनुष्य दीर्घायुष बन जाता है। प्राणों की शक्ति के उन्मीलन और निमीलन का रहस्य गुरुजनों को ज्ञात है। प्राण-रक्त में क्या सम्बन्ध है, यह भी वे भली प्रकार जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि मन की गति प्राण गति से कैसे सम्बन्धित है? सिद्ध लोग प्राण और विचारको संयमित कर आत्मान्वेषण करते हैं। सत्य तो यह है कि इस शरीर को धारण करने वाली जो सत्ता है, उसकी पार्थिव संसार में एक स्थूल अभिव्यक्ति ही प्राणों द्वारा है। यह शक्ति अदृश्य है, इस शक्ति के उत्क्रमण से प्राण भी जाता रहता है, फलतः मृत्यु हो जाती है, परन्तु प्राणायाम के द्वारा इस अदृश्य शक्ति-लहरी पर कब्जा करना सम्भव हो जाता है। प्राण-रोध उच्च-कोटि के योग के कष्ट-साध्य अभ्यासों में से एक है। ब्रह्मचर्य का पालन और उत्कट गुरु-आज्ञावर्ती होना भी आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में ब्रह्म सुखानन्द ने अपना एक निजी वृतान्त पालब्रंटन को सुनाया। गुरु-दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हम सदैव श्री-गुरुदेव के साथ ही रहते थे। वे कभी शहरों में जाते, कभी घने जंगलों में। मैं उनके साथ रहता। उनकी कृपा से मैं योग-मार्ग पर उन्नति करने लगा और मुझे मनः-शांति वर्षों बाद श्रीगुरु-चरणों में प्राप्त हुयी। कुछ वर्षों के पश्चात् अचानक एक दिन अपने पास बुला कर गुरुदेवजी ने कहा—अभी तुम्हें घर लौट जाना होगा, वहाँ साधारण जीवन बिताओ। विवाह करलो और तुमको एक पुत्र-रत्न भी प्राप्त होगा। तुम्हें ३९वें साल में कुछ संकेत मिलेंगे। उसके पश्चात् तुम संसारी जीवन के परित्याग के योग्य हो जाओगे, तब तुम उस परम तत्व को जान सकोगे; जिसकी सभी

(● शेष पृष्ठ ४२ पर)

चित्त और उसकी चंचलता का निरोध

—श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

आत्मा अभौतिक है। जो शरीर हमको मिला है वह भौतिक है। यह भौतिक पदार्थों द्वारा बनाया गया है और रासायनिक तत्वों तथा ऊर्जा की प्रतिक्रियाओं द्वारा इसका विवेचन हो सकता है। यदि हम यह विश्वास करें कि आत्मा का जन्म कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, सल्फर या फास्फोरस द्वारा हुआ है, तो हम आत्माके महत्व को कम कर देंगे। आत्मा भौतिक शरीर के द्वारा कार्य करता है, इसका भौतिक पदार्थोंसे बना वातावरण होता है और एक विशेष साधन से जिसको चित्त कहते है इसका व्यापार होता है। मनुष्यों में इस चित्त का पूर्ण विकास हो जाता है, अन्य पशुओं में इसकी आरम्भिक अवस्था पाई जाती है। और एक मान्यतानुसार प्राक् ऐतिहासिक काल के व्यक्तियों में चित्त और मस्तिष्क का विकास बहुत कम मात्रा में पाया जाता था।

चित्त की दो क्रियायें होती हैं। एक ओर यह आत्मा की आज्ञाओं का पालन करता है; दूसरी ओर यह मनुष्य का अधिपति बन जाता है। जब यह मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हो जाता है तब मनुष्य को अपने मार्ग से विचलित कर देता है और तब आत्मा में 'अहम्' की जागृति हो जाती है और तब आत्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि चित्त ने उसको किस प्रकार विचलित कर दिया था।

चित्त या मन का कार्य यह होता है कि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका संश्लेषण किया जाय। फोटो उतारने के कैमरा में एक पिन के बराबर छिद्र होता है और उसके ऊपर—काँच का लेन्स। इसी प्रकार हमारी आँख की पुतली है जिसमें मस्तिष्क पटल पर चित्र बनते रहते हैं और यह चित्र एक के बाद एक आते रहते हैं (जैसे टेप रिकार्ड में होता है)। इसी प्रकार से गन्ध, रंग, ध्वनि, स्वाद और त्वचा की संवेदनायें भी मस्तिष्क में आती-जाती हैं। जब आप देखते हैं तो सुनना बन्द रहता है, जब आप सुनते हैं तब गन्ध का अनुभव नहीं करते, जब आप सूँघते हैं, तो आप स्वाद नहीं लेते, इसी प्रकार क्रमशः मस्तिष्क में एक के बाद एक संवेदन होते रहते हैं और उन सबका विवेचन करके चित्त एक चित्र का पूर्ण स्वरूप बना लेता है। इस प्रकार से हम अपने वाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे सिनेमा चित्रों में रूप तथा ध्वनि का सामंजस्य होता है, हम अपने मस्तिष्क के सहारे (एक के बाद एक) स्वाद, गन्ध, त्वचा, (दृश्य और ध्वनि के अतिरिक्त) का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार जितनी भी मशीनें बनी हैं उनमें चित्त की मशीन सबसे विचित्र है।

चित्त सदा काम करता रहता है। यह

विश्राम तभी लेता है जब उसको गहरी नींद आ जाय। अर्द्ध जागृत अवस्था और निद्रा के बीच की अवस्था को स्वप्न-लोक माना गया है। चित्त इस अवस्थामें बड़ी विचित्रता से कार्य करता रहता है। यह तरह-तरह के चित्रों का निर्माण करता है। यह भूतकाल से लेकर भविष्य तक के चित्र बनाता है।

चित्त तीव्र गतिसे कार्य करता है, उसकी गति प्रकाश की गति से भी अधिक पाई जाती है। यह वर्तमान और भूत में गतिशील रहता है और बिना शरीर से बाहर निकले बड़े-बड़े क्षेत्रों की सैर कर लेता है। इस प्रकार चित्त के कार्य-कलाप में स्थानीय सीमाओं का बन्धन नहीं रहता। यह कालकी सीमा को भी पार कर जाता है, और देश की सीमा को भी। वास्तविक तथा काल्पनिक देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। अस्तु, इसकी गति का अनुमान नहीं हो पाता।

चित्त या मनोमय कोश की आकृति तथा निर्माण का वर्णन करना बड़ा कठिन है; इसके व्यवहार और व्यापार का वर्णन किया जा सकता है। हम सब जानते हैं कि चित्त एक साधन यन्त्र है जिसके द्वारा हम सोचते, अनुभव करते, देखते और भोग करते हैं। चित्त का व्यापार विचार शक्ति, स्मृति, बुद्धि इच्छा शक्ति, संवेदन, हृदय आदि के द्वारा होता है। भावात्मक विचार जो हृदय के द्वारा उत्पन्न हुए माने जाते हैं, उनका भी उद्भव चित्त के द्वारा होता है। कल्पना, अनुमान-प्रियता और उनके विचित्र सामंजस्य और सम्मिश्रण चित्त की ही प्रतिक्रिया मात्र है। समझाने के विचार से चित्त की वृत्तियाँ इस प्रकार होंगी-(१) प्रमाण अर्थात् यथार्थता से समझना, (२) विपर्यय या भ्रम होना, (३) विकल्प, (४) निद्रा या स्वप्न, (५) स्मृति।

चित्त स्वत: एक चेतन सत्ता नहीं है। न यह स्वप्न देखता है, न भोग करता है, न अनुभव करता है; चित्त के द्वारा हम सोचते हैं, स्वप्न देखते हैं, अनुभव करते और भोग करते हैं। चित्त उपकरण या साधन है साध्य या साधक नहीं। आत्मा वास्तव में अधिपति है और चित्त इसके व्यापार का साधन है।

हमने कहा है कि चित्त के सम्बन्ध में

(● पृष्ठ ४१ का शेष)

योगी खोज करते हैं। मैं तब तक तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहूँगा, ब्रह्म ने गुरुदेव की आज्ञाओं का अक्षरश: पालन किया। पालब्रंटन की विशुद्ध जिज्ञासा को देखकर एक दिन उन्होंने हठयोग के कुछ विलक्षण अनुभव उसे कराये। हृदय की धड़कन, नाड़ी का स्पन्दन, श्वास-प्रश्वास को काफी समय तक रोककर सुखानन्द ने पालब्रंटन के मन में हठयोग के चमत्कारिक प्रभाव को अमिट रूप से बिठा दिया।

भविष्यवाणी—

अन्तोगत्वा जिस दिन पालब्रंटन मद्रास से जाने वाला था, सुखानन्द ने उससे कहा—कल रात मेरे गुरुदेव ने मुझे दर्शन दिये। उन्होंने कहा कि—तुम्हारा मित्र ज्ञान पाने के लिए लालायित है। अपने पिछले जन्ममें वह हमारे बीच ही था, पूर्व जन्म का योगाभ्यासी है। पिछले जन्म में जो जानता था, वह इस समय भूल गया है। गुरु-कृपा से उसे पुन: स्मृति होगी, उससे तुम कह दो जल्द ही उसे सद्गुरु की प्राप्ति होगी, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। जब तक मेरी बात न घटित हो, वह भारत से न जाय, सारी बातें ज्यों की त्यों आगे उसके जीवनमें घटित हुईं। ●

हमारा बहुत कम ज्ञान है; फिर भी इसकी व्यवस्था करने, इसको वश में रखने की परम आवश्यकता है। यह ऐसा साधन या मशीन है जिसको बड़ी सावधानी से वश में रखना है। यदि इसको वश में न रखा जाय तो यह हमको मार्ग से विचलित कर देता है। चित्त एक ऐसी मशीन है जो टेप रिकार्डर के समान टेप करती है, विवेचना करती है, इसकी आकृति का विस्तार करती है और आत्मा के साथ इसका व्यापार कराती है।

हमें पशुओं के चित्तका इतना थोड़ा ज्ञान है और उसकी वृत्तियोंकी इतनी थोड़ी समझ है कि हम जब चित्त-निरोध की बात करते हैं तो उसको मनुष्य तक ही सीमित रखते हैं। कभी-कभी मानसिक विकार और चित्त-विक्षेप हो जाते हैं, जिनका औषधियों के द्वारा उपचार किया जा सकता है। मानसिक विक्षेप के लिए शमन प्रदान करने वाली औषधियाँ भी प्रचलित हैं। इसी प्रकार उत्तेजित करने की औषधियों, नशा लाने वाली गोलियाँ, शान्त करने वाली औषधियाँ, मानसिक स्नायुयों को सुप्त करने वाली बन गई हैं। पर जब हम चित्त के वशीकरण या संतुलन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य इस प्रकार की औषधियों के सेवनका नहीं होता।

चित्त के चंचल होने के अनेक कारण हो सकते हैं। चित्त इधरसे उधर भागता फिरता है और इसको अपने वश में रखना आवश्यक होता है जिससे कि तुम उसको अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगा सको। चित्त अशान्त करता है और छोटी-छोटी बातों के लिए भी समस्यायें खड़ी कर देता है। एक बार यह व्यग्र हुआ तो अशान्ति हो जाती है। यह चिन्ता करता-करता एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर पहुँच जाता है और इसको शान्त करने की आवश्यकता होती है। इससे स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, फिर मनुष्य क्रोध करने लगता है। मनुष्य तब एक दानव हो जाता है; वह क्रूर हो जाता है और फिर अन्याय कर चुकता है तो अन्त में उसको अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप होता है।

चित्तको जितना आप खाली रखना चाहते हैं, उस समय अनेकों दुर्भावनायें इसको व्यग्र करती हैं। ऐसे विचार उठते हैं जिनको आप कभी भी पसन्द न करेंगे; जितना आप इस दुर्बलता पर वश प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उतना ही अधिक चिंतित रहते हैं। इस प्रकार की मानसिक अव्यवस्था पर हम दुखी और निराश होजाते हैं। हम अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं, हम मस्तिष्क की दुर्बलताओं के दास हो जाते हैं।

यह कहा जाता है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ भौतिक हैं, प्रकृति से बनी हैं और इस कारण वे सदा भौतिक या प्राकृतिक पदार्थोंकी ओर दौड़ती हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों की वासनायें उत्पन्न होती हैं। जब हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं, हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। ये अच्छे पदार्थ हमको स्वप्नमें भी सताते रहते हैं। जब हम सुन्दर राग या सुन्दर गान सुनते हैं, हम उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। इस प्रकार हम गन्ध, स्वाद या स्वचा के भोगों में फँस जाते हैं।

सुन्दर वस्तुयें आकर्षित होती हैं, आकर्षण से राग उत्पन्न होता है, राग से उसकी दासता का जन्म होता है; दासता से हम उसके वश में आ जाते हैं। जब हमारी तुष्टि नहीं होती तो हम निराश हो जाते हैं। ये सब बातें चित्त को दुर्बल बना देती हैं, जिससे स्मृति मन्द हो जाती है और अन्त में वह

(शेष पृष्ठ ४७ पर पढ़िए)

योग साधकों को उपयोगी परामर्श—

यमों का निरूपण

● पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

अहिंसा सत्यमस्तेयं,
ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः,
शौचं चैव यमा दश ।।

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) क्षमा, (६) धृति, (७) दया, (८) आर्जव, (९) मिताहार और (१०) शौच, ये दस प्रकार के 'यम' कहाते हैं ।

इन सबके लक्षण निम्नलिखित प्रकार हैं-

कर्मणा मनसा वाचा,
सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तम-
हिंसात्वेन योगिभिः ।।

(१) अहिंसा—कर्म, मन और वाणी द्वारा किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' कहलाती है । हिंसा तीन प्रकार की होती है—(१) कृता, (२) कारिता और (३) अनुमोदिता । कृता=स्वयं करना, कारिता=दूसरे के द्वारा करवा देना, अनुमोदिता=पाप-कर्म को देखकर अथवा सुनकर प्रशंसापूर्वक यों कह देना कि 'वाह ! आपने अच्छा किया ? यही करना चाहिए और ऐसे ही करो ।' इनमें मृदु, मध्य और तीव्र करके और भी तीन भेद होते हैं । इसी तरह हिंसाके और भी अनेकों भेद हैं । सारांश यह है कि अपने शरीर से ऐसे काम न होने पायें कि जिनसे किसी भी छोटे अथवा बड़े प्राणी को कष्ट पहुँचे । मन में ऐसी बात का चिन्तन नहीं होना चाहिए कि जो हिंसात्मक हो और वाणी द्वारा ऐसे वचन न निकलने पायें, जिनसे किसी दूसरे प्राणी के मन में आघात पहुँचे । इस प्रकार की सभी हिंसाओं के त्याग हो जाने पर साधक के अन्तःकरण से वैर-भाव निकल जाता है और उस साधक का सारा संसार सच्चा मित्र बन जाता है । फिर तो उसे कहीं किसी से भी भय नहीं प्राप्त होता । यथार्थ रीति से अहिंसा धर्म के पालन करने वाले के विषय में भगवान कृष्ण-चन्द्र ने स्वयं अर्जुन से कहा है कि—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

हे अर्जुन ! जिस प्राणी द्वारा न तो दूसरे प्राणियों को कभी भय की शङ्का उत्पन्न हो और न वही किसी दूसरे प्राणी से डरता हो ऐसा हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या) और भय से रहित प्राणी मुझे (परम) प्रिय है ।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं,
नायथार्थाभिभाषणम् ।

(२) सत्य—जिसमें जीवात्माओं का हित निहित हो और जिसमें लेशमात्र भी झूठ न हो उसे 'सत्य' कहते हैं । यानी प्रत्यक्ष, अनु-

मान और शब्द प्रमाण से अन्तःकरण में जो सच्चा निश्चय ज्ञान हो उसे निष्कपटभाव से कह देना है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न,
ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष,
धर्मः सनातनः ॥
(मनुस्मृति)

सत्य तो बोलना चाहिए, पर सत्य ऐसा नहीं होना चाहिए जो अप्रिय हो और प्रिय भी ऐसा ही बोलना चाहिए जो सत्य से शून्य न हो। क्योंकि काने को काना कहना यद्यपि सत्य है, पर अप्रिय होने के कारण काने के अन्तःकरण में आघात पहुँचता है इसलिए वह हिंसात्मक हो जाता है। ऐसे ही जिस प्रिय वचन में झूठ मिली होती है, वह सुनने में तो प्रिय अवश्य लगती है, पर सुनने वाले को उससे परिणाम में दुःख प्राप्त होता है। इसलिए वह भी हिंसात्मक हो जाता है और सत्य-धर्म का उपदेश उस अहिंसा की रक्षा के लिए है, जो योग-मार्ग अथवा मोक्ष-मार्ग के दूसरे अंग का पहला अंग है। यद्यपि— "हितं मनोहारि सुदुर्लभं वचः।" प्रिय और हितकर वचन का बोलना अत्यन्त कठिन है, परन्तु कदाचित ऐसा अवसर उपस्थित हो कि सत्य और प्रिय इन दोनों में से एक का विच्छेद होना चाहता है तो उस समय मौन धारण कर लेना ही उत्तम मार्ग है।

सत्यवाद का सिद्धान्त यह है कि शब्दोच्चार समयानुसार चाहे जैसा हो, पर उसका आन्तरिक भाव सत्य से संयुक्त अवश्य होना चाहिए। जैसे—३-४, ५-२ अथवा १-८/२ इत्यादि सात ही होते हैं, साढ़े सात या पौने सात नहीं हो सकते और यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति लाहौर में है और उसे यह भी मालूम है कि उस व्यक्ति ने आजीवन लाहौर का मुख तक नहीं देखा, तब जान-बूझकर यह कह देना झूठ है, परन्तु यदि वास्तव में वह लाहौर में रहता है। उस समय यद्यपि कलकत्ते चला गया है, पर वक्ता के ज्ञान में लाहौर का रहना सत्य है। इसलिए यह 'असत्य' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष देखा हुआ, सुना हुआ अथवा अनुमान किया हुआ निष्कपट भाव से कह देना ही तो सत्य का लक्षण है और जिस वाक्यका शब्दोच्चारण यथार्थ हो पर उसका अभिप्राय यथार्थ न हो तो वह कथन सत्य नहीं कहा जा सकता। जैसे—कोई कहे कि 'मैं एक पैसा नहीं चुराता' और वह केवल एक पैसा नहीं चुराता। किन्तु तोड़े के तोड़े रुपये चुराता है तब यह वाक्य सत्य नहीं माना जायगा। प्रत्युत महान् असत्य कहा जाता है, क्योंकि यह लोगों के मन का समाधान करके सरासर सत्य-धर्मको धोखा देना है।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन, पन्था विततो देवयानः।
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
(मं० ५/३/१)

सत्य का महत्व—सत्यवादी की ही जय होती है, असत्यवादी की नहीं। सत्यधारी प्राणी के लिए देवयान मार्ग सदा प्रस्तुत रहता है और सत्यरूप तपस्या द्वारा प्राणी परमात्म-तत्व को प्राप्त हो जाता है।

न हि सत्यात्परो धर्मो,
नानृतात्पातकं परम्।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं,
तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥

सत्य वचन के समान कोई धर्म नहीं है और झूठ बोलने के समान दूसरा पाप नहीं है। यहाँ तक कि जिस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है वह ज्ञान भी सत्य की समता नहीं रखता, इसलिए सदैव सत्य बोलना चाहिए। झूठ के विषय में भगवती श्रुति कहती है कि-"समूलं वा एषः परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।" जो झूठ बोलता है वह मूल सहित नष्ट हो जाता है।

कर्मणा मनसा वाचा,
परद्रव्येषु निःस्पृहः।
अस्तेयमिति संप्रोक्तमृषि-
भिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(याज्ञवल्क्य)

(३) अस्तेय—कर्म, मन, वाणी द्वारा गुप्त रूप से किसी दूसरे के द्रव्यों की इच्छा न करना यानी जिस वस्तु का जो स्वामी हो उसकी अनुमति बिना अपने उपयोग में न लेना अस्तेय कहाता है। कदाचित अनायास ही किसी दूसरे का द्रव्य हाथ लग जाय तो उसके स्वामी का पता लगाकर पहुंचा दे। यदि किसी तरह पता न लगे तो अपने प्रदेश के अधिकारी द्वारा उस वस्तु की यथोचित व्यवस्था कर दे।

फल यह होता है कि "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्।" (योग-सूत्र २/३७) जब मनुष्य शुद्ध मन से चोरी करना त्याग देता है तो उसे सब स्थानों में अपनी इच्छा के अनुकूल सब प्रकार के रत्न अर्थात् उत्तम पदार्थ अपने आपही प्राप्त होने लगते हैं। ●

(पृष्ठ ४४ का शेष)

व्यक्ति बरबाद हो जाता है। इस आपत्ति से बचने के लिए उसके चित्त का सन्तुलन आवश्यक होगा।

यह कार्य इतना सरल नहीं है, चित्त या मन श्वास और प्रश्वास से शक्ति प्राप्त करके उसको अपने वश में रखता है। यह श्वास बिचौलिये का कार्य करती है, अतः प्राणायाम की क्रियाओं के द्वारा चित्त को वश में किया जाय। हमारा सारा वातसंस्थान इसी के वश में रहता है और श्वास का बन्द हो जाना ही मृत्यु कहाती है।

हम प्राणायाम की पूरी विधि यहाँ नहीं दे सकते। ये शरीर और चित्त की पवित्रता के लिये परमावश्यक है। इसका अभ्यास करने के पूर्व हमारा विश्वास अहिंसा में होना आवश्यक होगा। अहिंसा से तात्पर्य यह है हमने दूसरों के प्रति द्वेष की भावना और शत्रुता का अन्त कर दिया है; और किसी दूसरे को मन, कर्म और वचन के द्वारा हानि नहीं पहुँचावेंगे। हममें सत्य पर पूर्ण विश्वास होना आवश्यक है; हम किसी का शोषण न करें, और न दूसरों की वस्तु पर अधिकार करें। हमको शान्ति के साथ बैठना चाहिए; हम यह व्रत लें कि पवित्र जीवन व्यतीत करेंगे और इन्द्रियों के दास न होंगे; हमें ईश्वर से प्रेम करना चाहिये। प्राणायाम को सफल बनाने के लिये इन गुणों का होना आवश्यक है; तभी हम अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। यह निरन्तर अभ्यास से सम्भव होगा। यह माना कि असफलतायें होंगी, व्यवधान पड़ेंगे, इसलिए जिसे इसका अभ्यास करना हो वह दृढ़ता धारण कर यह कार्य करे। उसको निराश न होना चाहिए, दृढ़ होना चाहिये, यदि ऐसा हुआ तो सफलता अवश्य मिलेगी। ●

विजय पर्व

जन्म दिवस गुरुदेव आपका विजय पर्व ले आया
इसीलिए तो विहँस धरा ने गीत विजय का गाया
ऊषा ने मन मोद मानकर कुंकुम तिलक लगाया
जननीने दे जन्म तुम्हें जीवन का शुचि फल पाया
रवि ने पाई रश्मि, चन्द्र ने पाई अपनी छाया
मिला पिता को पूत, जगत को मनमोहन मन-भाया
ज्ञान और वैराग्य मिल गया मही में रुद्र देव को
मिली राम को निज मर्यादा करुणा बुद्ध देव को
कर्मयोग निष्काम-कृष्ण ने तुम में आकर झांका
देव पतंजलि ने व्याख्याता अपने कुल का आंका
मधुपति ने मधुमय रस घोला नवोजात प्राणी में
मिली सरलता और सौम्यता कल्याणी वाणी में
भोग और ऐश्वर्य भागकर तुमसे बने वियोगी
'सिद्धयोग' बन गया तुम्हारे जीवन का संयोगी
त्याग तपस्या ही जीवन का तुमने लक्ष्य बनाया
सिद्धेश्वर प्रभु रामलाल का पथ तुमने अपनाया
तुमने ही गुरुदेव ज्ञान का दीपक यहाँ जलाया
'योग-मार्ग ही मुक्ति मार्ग है' तुमने यह बतलाया
तुमने अपने शक्ति-कोष से भरदी उसकी झोली
श्रद्धा भरे हृदय से जिसने कुटी तुम्हारी खोली
तुमने ही निज लीलाधर का लीला-धाम सम्हाला
उनके बोये योग बीज को तुमने पोषा पाला
तुमने ही गुरुदेव हमें ज्ञानामृत यहाँ पिलाया
तुमने ही उस परम पुरुष से हमको यहाँ मिलाया
जो वाणी से अनबोला है नयनों से अनदेखा
और न जहाँ पहुंच पाई है अभी बुद्धि की रेखा
कौन तुम्हारे ऐसे ऋण से उऋण हो पाया है
गुरुवर अपरम्पार तुम्हारी महिमा अरु माया है
साधक कोई भटक न जाये, इस तमसावृत जग में
इसलिए तो ज्योति जलाकर, बैठे हो तुम मग में
जब-जब जन्म दिवस की पावन बेला गुरुवर आती
तब-तब जीवन के कोषों में नई शक्ति भर जाती
सूर्य रश्मियां लेकर आतीं इस दिन नया सवेरा
जगमग होता उर का आंगन मिटता घोर अँधेरा
एक नया आनन्द नया रस जीवन में तब आता
जब गुरुदेव तुम्हारे चरणों में मन मेरा जाता
मंजुल मोहन मूर्ति माधुरी नयनों में आती है
तदाकार ही चित्त-वृत्ति तब सबकी हो जाती है
पाकर तुम को और न कुछ भी पाने को रह जाता
जन्म दिवस गुरुदेव आपका यही बताने आता

● श्री दिव्य

● ब्रह्मचारी श्री राजकुमार शर्मा

इष्ट का वियोग—योग का आधार

यह हम सबका दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि जिसकी हम कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं करते थे वह दुर्भाग्य की घड़ी २५ जूनको हमारे सबके सामने आई जिसमें देखते-देखते युगचक्र और कालचक्र के प्रवर्तक हमारे जगदाधार, उदारमना, परमसिद्धियोंके आगार श्री सद्गुरुदेवजी हम सबको अनाथ-सा छोड़ कर सहसा इस संसार से चले गये। यद्यपि यह ठीक है कि वे विराट पुरुष का रूप लेकर हम सबके हृदय में उपस्थित हैं, हमसे किंचित भी दूर नहीं हैं, किन्तु यह भी सही है कि हम अब उनकी मोहक माधुरी पांचभौतिक छवि का दर्शन नहीं पा सकेंगे। लेकिन हमें यह निश्चित विश्वास है कि वे कृपालु प्रत्येक क्षण हमारी क्रियाओं से जुड़े रहेंगे और सदा सन्मार्ग पर चलनेकी प्रेरणा देकर आपदाओं से हमारी रक्षा करते रहेंगे।

चन्द्रमा की चाँदनी अथवा सूर्य रश्मियों के उज्ज्वलतम् प्रकाश के समान उन्होंने अपने गुरुदेव प्रभुवर रामलालजी के योग-सिद्धान्तों का उनकी आज्ञानुसार व्यापक प्रचार किया। उन्होंने उनके योग-सन्देश को न केवल भारत के कोने-कोनेमें पहुँचाया, बल्कि अनेक विदेशी शिष्यों को दीक्षा देकर उनके माध्यम से उन्होंने उसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली जैसे सुदूर देशों में भी पहुँचाया।

वे एक उच्चकोटि के सिद्धयोगी तो थे ही साथ ही उच्चकोटि के महामानव भी थे। मानवता के सभी गुण उनके आचरण और व्यवहार में हर समय झलकते रहते थे। दया, करुणा, प्रेम और क्षमा के वे साक्षात् अवतार थे। जिसने जो भी मांगा उसे वही दे दिया। रहन-सहन की दृष्टि से वे सात्विकता की भोली-भाली ऐसी दिव्य-मूर्ति थे कि जिसकी उपमा हमें अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। अपने सभी बच्चों को चाहे वे पुरुष हों या स्त्री अपने हृदय का टुकड़ा कहकर पुकारा करते थे तथा लल्ला-लल्ली कहकर सम्बोधित करना उनकी अपनी विशेषता थी।

उनके बिना आश्रम का समूचा वातावरण सूना-सूना सा दिखाई पड़ता है। सूना पलंग, सूना सोफा दर्शकों को शून्यमें ले जाकर खड़ा कर देता है। साधक आपको न पाकर अन्धकार में डूब जाता है, किन्तु इस अन्धकार में ध्यान की उज्ज्वल रेखा साधक के मन को गुरुदेव के मन से जोड़ देती है और कहती है—अब तुम सबकी मुक्तिका मार्ग यह ध्यान-मार्ग ही है, इसके द्वारा ही अब हम अपना उद्धार कर सकेंगे, हमारा मन गुरुदेव के समिष्ट मन से जुड़ा रहे यही हमारी प्रार्थना है।

वास्तव में इष्ट के वियोग के पश्चात् ही योग का प्रारम्भ होता है। भगवान श्रीकृष्ण के वृन्दावन छोड़ देने के पश्चात् गोप-गोपियाँ उनके ध्यान में अत्यन्त तन्मय होकर समाधि अवस्था को प्राप्त हो गये थे। इस अवस्थाको पा जाने पर 'जित देखो तित श्याम, ऐसा साक्षात् दर्शन करते थे। कभी-कभी कोई गोपी तन्मय भाव में अपने को कृष्ण ही समझती हुई उन्हीं के अनुसार चेष्टायें करने लगती थीं। अब गुरुदेवजीके स्थूल शरीरसे न रहने पर उनकी खोज में हमारा मन वैसा ही चिन्तनशील बना रहता है और यह अब हमारे लिए सहज-योग बन गया है।

★

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर)
आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री
1925
सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी
श्री एम. बी. दण्डोतिया सरकारी वकील
का मकान गणेशपुरा मुरैना म. प्र.

सत्य की प्रतिष्ठा

बिना सत्य को आधार बनाये सत्ता, सम्पत्ति और शक्ति प्राप्त करने के मनुष्य के सारे प्रयत्न उसी प्रकार व्यर्थ चले जाते हैं जिस प्रकार कि बालू की दीवार उठाने के किसी के भी प्रयास निष्फल ही रहते हैं। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन रूपी भवन का जो निर्माण करना चाहते हैं उन्हें मनसा-वाचा-कर्मणा, सत्याचरण को ही अपना अधिष्ठान बनाना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है कि जिनकी वाणी में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है उनकी वाणी फलवती बन जाया करती है।

—योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन

मुद्रक–देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा । Ph. 360426